❋ श्रीवीतरागायनमः ❋

# दयानंद कुतर्क तिमिरतरणि

कर्त्ता

श्री १००८ श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी के

पट्टधर

श्री १००८ श्रीमद्विजयकमलसूरिजी के

शिष्य

श्रीयुत मुनि लब्धिविजयजी

---

प्रसिद्धकर्त्ता

जसवंतराय जैनी, लाहौर।

मिलने का पता—

जनरल बुकडिपो, लाहौर।

---

बाम्बे मैशीन प्रेस, लाहौर।

---

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य छः आने

ग्रंथ कर्त्ता के गुरु

जैनाचार्य
श्रीमद्विजयकमल सूरि महाराज

# प्रसिद्धकर्त्ता की ओर से प्रार्थना

पाठकगण की सेवा में मैं सविनय निवेदन करता हूं कि जीव को मनुष्य जन्म का मिलना बहुत दुर्लभ है, मनुष्य जन्म भी पालीया, उच्चकुल, सर्वेन्द्रियें पूर्ण, लम्बीआयुष्य, आर्यक्षेत्र, सद्धर्म की प्राप्ति और उस पर दृढ़ श्रद्धान कराने वाले पंच महाव्रतधारी त्यागी सद्गुरु का योग इत्यादि न मिलें तो मनुष्य जन्म पाया भी सफल नहीं होसकता, अतः जिन मनुष्यों को सर्व सामग्री मिली है, उन के पूर्ण भाग्य का उदय है, उन को चाहिये कि वह दत्तचित्त होकर धर्मसाधन में प्रवृत्त हों, परन्तु कालका प्रभाव ऐसा है कि जीव पक्षपातांधः हो विषयासक्त बन तत्त्वा-तत्व को नहीं विचारता और मान तान में आकर अस्त व्यस्त कुतर्क कर अपनी विद्वत्ता का प्रकाश सर्व साधारण पबलिक में करता है, सो यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं ॥

स्वामी दयानन्दजी ने तथैव परम पवित्र सनातन जैनधर्म पर कई प्रकार के कलङ्कारोप किये, जिनका प्रत्युत्तर प्रायः जैनमुनियों व गृहस्थों ने समय २ पर दिया, परंतु श्रीमान् श्री-मुनिलब्धि विजयजी महाराज ने केवल स्वामीजी की कुतर्कों के खंडन में "दयानंदकुतर्कतिमिरतरणि" नाम की पुस्तक त्यार की, जो कई एक कारणों से मुद्रित न होसकी, गत फाल्गुण मास में मुनिजी का शुभागमन लाहौर में हुआ और मुनिजी ने कहा कि हमारा एक काम है और हमारे गुरु श्रीमद्विजयकमलसूरिजी महाराज की भी इच्छा है कि "दयानन्द कुतर्कतिमिरतरणि" छप जाये, मैंने उत्तर दिया कि मुझे अव-

काश नहीं, और इसी कारण पुस्तक छपाने के कार्य को छोड बैठा हूं। मुनिजी तथा उनके शिष्य श्रीमुनि गंभीरविजयजी की उत्कंठा और आचार्य्य महाराजजी की भी इसके छपने में प्रेरणा और इच्छा है,इन बातों को विचारकर मुनिजी की वार२ प्रेरणा होने पर मैंने अनुमति प्रकट की और जिस समय के अन्दर२प्रकट करनेका नियम लिया था,उस समय के अन्दर सांसारिक व व्याधि आदिक कई कारणों से यह पुस्तक नहीं छप सकी,उस के लिये मैं हाथ जोड मिथ्या दुष्कृत की क्षामना मांगता हूं और प्रार्थना करता हूं कि मुनिजी ने इस के परूफ नहीं देखे, मैंने ही परूफ देख कर छपवाई है, यदि प्रमाद के वश से वा दृष्टिदोष से वा छापे में कोई अशुद्धि रही हो, तो सज्जन महाशय क्षमा करें।

आप का कृपाकांक्षी–

श्रीसंघका दास

जसवंतराय जैनी, लाहौर

# भूमिका

रागद्वेषपरित्यक्तो विज्ञाता विश्ववस्तुनः।
सेव्यः सुधाशनेशानां गिरीशो ध्यायते मया॥ १॥
सूरिं श्रीविजयानन्दं तं नमामि निरन्तरं।
यस्याभूवं प्रसादेन बालोपि मुखरीतरः॥ २॥
प्रणम्य सद्गुरुं भक्त्या सूरिं श्रीकमलाऽह्वयम्।
मन्तव्यानां च जैनानां क्रियते मण्डनं मया॥३॥

विद्वद्गण को विदित रहे कि मेरी इच्छा यह न थी कि मैं अपने अमूल्य समय को खंडन मंडन रूप काटकूट में पड़कर व्यतीत करता परंतु जब संवत् १९६५में मेरा आगमन देश पंजाबमें हुआ और प्रतिनगर में कतिपय आर्य भ्रातृगणों से चर्चा वार्ता का काम पड़ने लगा तो मुझे सत्यार्थप्रकाश देखना आवश्यक हुआ जब, द्वादश समुल्लास को देखा तो दयानंदजी की लेखनी का उल्टा प्रवाह स्थल स्थल पर सत्शास्त्रगत सत्ययुक्तियों को भी बहाता दृष्टिगत हुआ, और मैं परमाश्चर्य्य को प्राप्त हो विचारने लगा कि आ हा काल की क्या विचित्रगति हैकि परम पवित्र हमारे जैनधर्मपर एक अल्पज्ञने जितनी कुतर्कें की हैं, वह सर्व वृथा हैं, कुतर्कें करने का कारण विचारनेपर केवल जैनधर्म के तत्त्वों की अनभिज्ञता और द्वेषपरायणता ही प्रतीत हुआ, यद्यपि यह निश्चित है कि सूर्य्य पर धूली क्षेपण करने से सूर्य्य की कुछ हानि नहीं ? प्रत्युत क्षेपण करने वाले की ही हानी है, तद्वत् इस जैनधर्म रूप सूर्य्य पर दयानन्द की कलंकरूप धूली क्षेपण करने से जैनमत के प्रकाश में कोई हानी नहीं पहुंची, किन्तु कलङ्कितकर्त्ता ने महात्मा पुरुषों की निन्दा करके केवल अपनी आत्मा को मलीन

किया है, अतः इस का खंडन लिखना निष्फल था, परं जब यह विचारा कि धूली क्षेपण के समय पार्श्ववर्त्ति पुरुषों को भी किञ्चित् पीड़ा पहुंचती है, और वह विचारे उन्मत्त की उन्मत्तता से वृथा कष्ट उठाते हैं उन को कष्ट से मुक्त करना एक परोपकार का अङ्ग है और कतिपय पुरुष भ्रमित हो इस जैन धर्मपर अविश्वास कर पापकर्मबन्धन न करें, प्रत्युत इसके शरण से अपना आत्मकल्याण करें, ऐसा विचार कर इस द्वादश समुल्लास का खंडन करना कतिपय महाशयों के कहने से स्वीकृत किया। हमारे कई मुनिराजों व सद्गृहस्थों ने इस का खूब खंडन किया है; परंतु कई महाशयों ने तो प्रायः सर्व समुल्लासों की अस्त व्यस्त बातों को लेकर खंडन किया है, और कई महात्माओं ने अनेक विषयोंसे भरपूर जो पुस्तक रचे है, उसीमें इस को स्थान दिया है और कतिपय प्रश्नों का प्रत्युत्तर देना अवशिष्ट भी रहा है इसलिये मैंने पृथक् पुस्तक के आकार में इस का खंडन करने का यह परिश्रम उठाया है अन्यथा कोई आवश्यकता न थी ॥

प्रिय सज्जनो! स्वामी दयानन्दजी ने इस द्वादश समुल्लास में जैनधर्म के संबंध में यत्किंचित् खंडन किया है, सो सर्वथा असत्य है, मैंने जिन पृष्ठों का उल्लेख किया है वह पृष्ठ संवत् १९६४ के छपे सत्यार्थप्रकाश के समझने, यदि इस पुस्तक के लिखते समय प्रमादवश कहीं विरुद्ध लिखा गया हो तो मै मिथ्या दुष्कृत देता हूं और महात्मा पुरुषों से प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे सूचना करें ताकि द्वितीयावृत्ति में सुधारा किया जाय। इत्यलं विज्ञेषु ॥

श्रीमद्विजयमकसूरीश्वरानुचर
मुनिलब्धि विजयः

* श्रीवीतरागायनमः *

# दयानन्दकुतर्कतिमिरतर्णिः

निर्मार्जितेयत्पदपङ्कजानां,
रजोभिरन्तः प्रतिबिम्बितानि ।
जनाः स्वचेतो मुकुरे जगन्ति,
पश्यन्ति तान्नौमिमुदे जिनेन्द्रान् ।

मङ्गल किये विना विघ्नों का नाश नहीं होसक्ता, और विना विघ्ननाश के ग्रन्थ समाप्त नहीं होता, अतः उपरिस्थ श्लोक में जिनेन्द्र नमस्कारात्मक मङ्गल किया गया है ॥

प्रश्न–जिनेन्द्र किसको कहते हैं ?

उत्तर–"रागद्वेषाद्यभ्यन्तर शत्रून् जयतीतिजिनः"

अर्थात् रागद्वेषादि रूप अभ्यन्तर शत्रुओं को जो जीते सो जिन॥

"जिन" शब्द से भावार्थ केवलज्ञान ( ब्रह्मज्ञान ) धारने वाले का है, क्योंकि जब रागद्वेषादि अन्तरङ्ग वैरियों को जीत लिया, तो बाह्यशत्रु स्वतः पराजयभाव को प्राप्त होने से उभय पक्षविशुद्ध जिनपद प्राप्त होता है, अर्थात् वह जिन अतीतानागत

वर्तमान सर्व पदार्थ करतलगतामलकवत् देखते हैं, ऐसे ब्रह्म-ज्ञानियों का जो इन्द्र—स्वामी, उसे जिनेन्द्र कहते हैं, और भी अनेक नाम है, यथा—

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनप्रष्ठो जिनोत्तमः ।
जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥१॥
जिननाथो जिनपति र्जिनराजो जिनाधिराट् ।
जिनप्रभु र्जिनविभु र्जिनभर्त्ता जिनाधिभूः ॥२॥
जिनचंद्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुंजरः ।
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिमः ॥३॥

आर्य्य—आपके अर्थ तो हमने सुने, परन्तु हमारे स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थप्रकाश के द्वादशम समुल्लास में जैनधर्म का खूब खण्डन किया है, आपने देखा होगा ?

जैनी—जी हा, देखा है, पढ़ा है, परन्तु हमें तो उससे प्रतीत होता है कि स्वामीजी जैनधर्म से सर्वथा अनभिज्ञ थे, कदाचित् उन को कुछ भी ज्ञान होता, तो जैनधर्म के तत्त्वों को विना सोचे समझें अनायास गप्पशप्प लगाकर सत्यार्थप्रकाश में अपने अनभिज्ञता के अजीर्ण को प्रकाश न करते ॥

आर्य्य—बताइये, कहा पर ?

जैनी—सुनिये ! कहां पर क्या ? हम आपको द्वादशम समुल्लास का खण्डन ही सम्यकतया कर दिखाते हैं, सत्यार्थप्रकाश पृष्ट ४३४ से जैनधर्म का खण्डन प्रारम्भ होता है, वहां ही से

स्वामी जी की बुद्धि का फोटो दिखाते है—स्वामीजी लिखते हैं "जैनी लोग धर्म्मास्तिकाय, अधर्म्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और काल, इन छः द्रव्यों को मानते हैं इनमें काल को आस्तिकाय नहीं मानते किंतु ऐसा कहते है कि काल उपचार से द्रव्य है वस्तुतः नहीं" इन षट् द्रव्यों की समीक्षा करने समय स्वामीजी ने पक्षपात का चश्मा लगा कर जो मनः कल्पित समीक्षा की है हम उस का खण्ड २ करके दिखलाते हैं—स्वामीजी ने बुद्धमत का खण्डन करते कई वार्तें प्रकट की हैं, जिनकी वावत हमें लिखने की अनावश्यक्ता है, परन्तु जैनधर्मोपरि भी अनर्थ प्रकाश किया है, कि "जैनियों का मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म द्रव्य नहीं, किन्तु गुण हैं, यह दोनों जीवास्तिकाय में आजाते हैं, इसलिये आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था, और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं,वेही ठीक हैं,क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन यह नव पृथक् २ पदार्थ निश्चित हैं, एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैन बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है"॥ देखिये इस से ही स्वामीजी की बुद्धि का कैसा प्रकाश होरहा है, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप मानकर आत्मा में समावेशित मानना कैसी बुद्धि की विकलता है—

**आर्य**—अजी ! हमारे स्वामीजी कभी नहीं भूल सकते, आप सिंहगर्जना क्यों करते है ? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को आप धर्म और अधर्म नही कहते तो क्या कहते हैं ?

**जैनी**–यही ही तो हम मिथ्या अन्धकार को विनाश करने वाला सूर्य्य प्रकाश कर दिखावेंगे और इसी हेतु से इसका नाम **दयानन्द कुतर्कतिमिरतर्णि** रक्खा है–सुनिये ! धर्मास्तिकाय आर अधर्मास्तिकाय यह दोनों अरूपी पदार्थ हैं, अर्थात् धर्मास्तिकाय चलने फिरने में सहायकारी है और अधर्मास्तिकाय रोकने में सहायक है, नतु पुण्य और पाप ॥ नहीं मालूम, स्वामीजी ने यह फिलासफी कहां से सीखी है, यही नहीं, पूर्वापरविरोद्ध का भी ध्यान नहीं किया, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि पुण्य चलने में और पाप रोकने में सहायकारी हो, यदि एक गति से दूसरी गति में ले जाने से पुण्य को धर्मास्तिकाय में प्रविष्ट कर चलने में सहायकारी मानोगे तो पाप को भी तथैव मानना पड़ेगा, क्योंकि पाप भी दुर्गति में ले जानेवाला है–तो फिर रोकने वाला कौन रहा ? इसलिये स्वामीजी की युक्ति समीचीन नहीं ॥

जैनों का मानना है कि प्रतिसमय चलने और ठहरने में जो सहायक अरूपी पदार्थ हैं, उसको धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं, यथा आकाश प्रतिसमय अवकाश देता है ॥

**आर्य**–अच्छा, इस से आगे स्वामीजी ने क्या लिखा हैं ?

**जैनी**–लो सुनो ! पृष्ठ ४३९ पर–"जैन आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था" स्वामीजी का यह लिखना भी उचित नहीं, क्योंकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय यह दोनों प्रथक् २ पदार्थ सिद्ध हो चुके हैं, इसलिये षट्द्रव्य ही मानना युक्ति प्रमाण से सिद्ध है, यदि स्वामीजी पक्षपात का चश्मा उतार कर देखते तो मालूम होजाता कि वैशेषिक के

माने नवद्रव्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? पृथिवी, अप, तेज, वायु और मन यह पांचों तो जीव और पुद्गल में प्रविष्ट हैं, क्योंकि इन पांचों में जीव और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ दृष्टिगत नहीं, और मन भी पुद्गल है, पृथिवी, पानी आदि को कौन द्रव्य नहीं मानता ? तो फिर इन को भिन्न द्रव्य मानना बुद्धिहीनों का काम है—और दिशा को एक पृथक् द्रव्य मानना यह भी मूर्खता है, क्योंकि दिशा आकाश से पृथक् नहीं, यथा घटाकाश, मठाकाश, पटाकाश उपचारतः पृथक् २ हैं, परं तत्त्वतः आकाश में ही यह सर्व समप्रविष्ट हैं, इसी तरह दिशा उपचारतः आकाश से भिन्न है, तत्त्वतः नहीं, तथा चोक्तम्— श्रीयुक्तिप्रकाशनाम्नि ग्रन्थे—

**मूल—नभः प्रदेश श्रेणिष्वादित्योदयवशाद्दिशां ।**
**पूर्वादिको व्यवहारो व्योम्नोभिन्ना न दिग्ततः ।**

टीका—हे वैशेषिक ! त्वया यतः पूर्वादिदशप्रसयाज्जायते सा दिग् गगनाद्भिन्नेति निगद्यते तच्चानुपपन्नं दशप्रसयानां गगनादेव जायमानत्वादिति दर्शयति नभः प्रदेश श्रेणिषु आकाश-प्रदेशश्रेणिषु आदित्यस्य भानोरुदयवशात् पूर्वादिको व्यवहारो व्यवहृतिर्जायते अयमर्थः येषु नभःप्रदेशेषु सूर्य उदेति ते नभः प्रदेशाः पूर्वदिक्क व्यवहारजनकास्त एव नभःप्रदेशाः पूर्व दिगि-त्युच्यते शेषासु नवस्वप्यनयैवरीत्या योज्यं ततः कारणात् व्योम्नो-दिग् न भिन्ना व्योमप्रदेशनामेवादिक्त्वात्—इति वृत्तार्थः—

भावार्थ—हे वैशेषिक ! पूर्वादि दश दिशाओं से प्राप्त हुई दिशा को आकाश से भिन्न कहना उचित नहीं, क्योंकि दश दिशाएं आकाशान्तरभूत हैं, सो दिखाते हैं कि आकाश प्रदेश

में सूर्य निकलने के कारण पूर्वादि दिशायें कहलाती हैं, क्योंकि जिन आकाश प्रदेशों में सूर्य निकलता है, वह आकाश प्रदेश पूर्व दिशा के व्यवहारजनक हैं, और वोही आकाश पूर्वदिशा के नाम से पहचाना जाता है, इसी प्रकार अन्य दिशों सम्बन्धि समझ लेना, इसलिये दिशा आकाश से भिन्न नहीं, अब न्याय पूर्वक विचारें कि आपके नव द्रव्य सिद्ध हुए वा हमारे षट्द्रव्य ? कहना ही पड़ेगा कि हमारे षट्द्रव्य ही युक्तिसिद्ध हैं, और वैशेषिक के नवद्रव्य युक्तिहीन होने से असिद्ध है। फिर स्वामी जी लिखते है कि "जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैन बौद्धों की हठधर्मी है" स्वामीजी का ऐसा लिखना उनकी पूर्णानभिज्ञता का सूचक है—क्योंकि जैन ईश्वर को मानते हैं—तथाहि :—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्य माद्यं,
ब्रह्माणमीश्वर मनन्तमनंग केतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोग मनेकमेकम्.
ज्ञानस्वरूप ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥१॥
बुद्धस्तमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासिधीर शिवमार्ग विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि ॥२॥
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति हरायनाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।

**तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,**
**तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥३॥**

और भी लाखों श्लोक ईश्वरस्तुति के हैं, यदि जैनी ईश्वर को न मानते तो स्तुति किस की करते हैं, अतः स्वामीजी का यह लिखना कि "जैनी ईश्वर को नहीं मानते" उजाड़ में रोने समान होने से कौन सुनता है। फिर स्वामीजी लिखते हैं कि "बौद्ध और जैनी लोग सतभङ्गी और स्याद्वाद को मानते हैं" यह भी स्वामीजी की अज्ञानता का सूचक है—क्योंकि बौद्ध लोग सप्तभङ्गी और स्याद्वाद को नहीं मानते हैं, स्वामीजी का लेख तब सत्य होसकता है, जब उनका कोई अनुयायी सप्त भङ्गी और स्याद्वाद को मानना बौद्धधर्म के किसी प्रमाणिक ग्रन्थ से सिद्ध कर दे। फिर स्वामीजी ने विना समझे सोचे सप्तभंगी के खंडन का प्रयास किया है सो सर्वथा निष्फल ही है, केवल रंडी रोने से शंकराचार्य जैसे जो "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" की राड़ मारते थे, वह सप्तभंगी का यथार्थ स्वरूप न समझ सके, तो आपके स्वमी जी की क्या शक्ति जो इस अगाधतत्त्वस्वरूप को समझ सकें, खण्डन तो दूर रहा—यदि आपको वा अन्य किसी तत्त्वानुगवेषो को जैनों की सप्तभङ्गी और स्याद्वाद के स्वरूप का समझने की इच्छा हो तो श्रीविमलदासजी कृत सप्तभङ्ग-तरङ्गिणी जो नवीन न्याय है, पढ़ लेवे, यदि संस्कृत न जानता हो तो न्यायांभोनिधि तपगच्छाचार्य श्रीमद्विजयानन्द सूरि प्रसिद्ध श्रीआत्माराम जी महाराजविरचित तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थ का षट्त्रिंशत ( ३६ वां ) स्थम्भ पढ़कर देखले, इसमें शङ्कराचार्य कृत सप्तभङ्गी के खण्डन का खण्डन सविस्तर है, उस से विदित होजावेगा कि विचारे स्वामीजी का विना विचारा ही सर्व

प्रयास निष्फल है. फिर पृष्ठ ४३७ पर स्वामीजी ने इतिहासतिमिर नाशक के कर्त्ता राजा शिवप्रसादजी का सहारा ले तथा अमर कोश के तीन श्लोकों का प्रमाण देकर जैन और बुद्ध को एक मत सिद्ध करने का साहस किया है, परन्तु वह भी निर्वलता और अज्ञानता का ही सूचक है—नही मालूम स्वामीजी तात्पर्य समझे विना ही " हम भी पांचों सवारों में " की प्रथा की क्यों शरण ले वैठते थे, यह स्वामीजी का स्वभाव ही था, राजा शिवप्रसादजी का और ही अभिप्राय है, विशेष देखना हो तो प्रसिद्ध महामुनिराज श्रीआत्मारामजी विरचित अज्ञानतिमिर-भास्कर का पृष्ठ १४७ देखलेवे ॥

आर्य्या—खैर, क्या अमरकोश से भी जैन और बौद्ध का एकत्व सिद्ध नही हो सकता ?

जैनी—वेशक ! कदापि दोनों मतों का एकत्व होना सिद्ध नहीं हो सकता ॥

स्वामीजी ने अमरकोश के तीन श्लोक लिखकर तरक की है "बुद्ध, जिन–वौद्ध तथा जैन एक के नाम हैं, वा नही ? क्या अमरसिंह भी बुद्ध जिन को एक लिखने मे भूल गया है ? जो अविद्वान् जैन है, वह तो न अपना जानते और न दूसरे का केवल हठमात्र से वर्ड़ाया करते हैं, परन्तु जैनियों में जो विद्वान् है, वह सव जानते है, कि " बुद्ध " और "जिन" तथा वौद्ध और जैन पर्यायवाची हैं।" इस में भी स्वामीजी का साहस व्यर्थ है, क्योंकि यदि वौद्धों ने "जिन" शब्द को अपने इष्टदेव के नामों में प्रयोग कर लिया तो क्या इस से वुद्ध और जैन एक हो गये ? कदापि नही, यदि किसी आर्या का नाम

मदनदत्त हो, और वैसे ही किसी भङ्गी (मेहतर) का नाम मदनदत्त हो तो क्या भङ्गी और आर्या एक होसकते हैं ? कदापि नहीं।

**आर्या**—जैनमत और बौद्धमत में क्या भेद है ?

**जैनी**—हम आपको सामान्य सब भेद वर्णन कर देगें, परन्तु आपको भी न्याय को अंगीकार और पक्षपात को सागकर मनन करना चाहिये। सुनिये ! जैन २४ तीर्थंकर मानते हैं, बौद्ध ७ मानते हैं, जैनी सप्तभङ्गी मानते हैं, बौद्ध नहीं मानते हैं, जैन हरएक पदार्थ को नित्यानित्य मानते हैं, बौद्ध नहीं मानते हैं ॥

**आदीप माव्योम समस्वभावं स्याद्वाद मुद्रानतिभेदि वस्तु इति वचनात् ॥**

बौद्ध हरएक पदार्थ को अनित्य मानते हैं, बौद्ध मुक्ति से पुनरागमन मानते हैं, जैनी नही मानते हैं, इस बात में तो स्वामी जी ही बौद्धों से मिलते हैं, क्योंकि स्वामी जी ने भी मुक्ति से पुनरागमन माना है ॥

**आर्या**—कहां पर लिखा है—

**जैनी**—देखो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २५२।

**आर्या**—बौद्धमत के शास्त्रों में क्या कहीं ऐसा लेख भी है ? कि जिससे जैन और बौद्ध भिन्न २ सिद्ध हों ?

**जैनी**—हां, कई शास्त्रों में—प्रथम तो महावग्ग सूत्र में लिखा है कि जब शाक्यमुनि गौत्तम विशाला नगरी में गये, तो वहां

* ज्ञातपुत्र अर्थात् श्रीमहावीर स्वामी के एक चेले को बौद्ध बनाया, इस से स्पष्ट सिद्ध है, कि जैनमत बौद्धमत से भिन्न है, यथा कोई कहे कि अमुक मुसलमान को आर्या समाजी बनाया गया, वा अमुक आर्या समाजी को मुसलमान बनाया गया, तो इस से सिद्ध होता है कि मुसलमान और आर्या दो भिन्न २ पन्थ हैं। दूसरे यह कि बौद्धमत के ग्रन्थ बौद्धपीठिका में लिखा है कि श्रीमहावीर स्वामी और श्रीसुधर्मास्वामी बौद्ध मत के भारी ╪ शत्रु थे–इस से भी जैन और बौद्ध की भिन्नता ही सिद्ध होती है, अच्छा यह तो रहने दो, स्वामीजी के अपने लेखानुसार भी जैन और बौद्ध भिन्न सिद्ध होते हैं। क्योंकि यदि जैन और बौद्ध एक होते तो स्वामीजी "जैन" और "बौद्ध" ऐसे न लिखते, "जैन" और "बौद्ध" के बीच में जो शब्द "और" है,, उस से प्रतीत होता है कि दोनों मत भिन्न हैं॥

**आर्या**–आपका उत्तर आपकी अतीव योग्यता का सूचक है, तथापि स्वामीजी ने ऐसे प्रबल प्रमाण होने पर भी जैन और बौद्ध को एक मत क्यों लिख दिया?

---

* डाक्टर रुडल्फ हारनल ने एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में जो वार्षिक स्पीच दी है। और कलकत्ता में २ फरवरी १८९८ में छपी है, उसके पृष्ठ ३ पर निम्न लेख है—In the books of the rival Order of the Buddhists, he is designated the Nataputta. अर्थात्—बुद्धधर्म की पुस्तकों में ज्ञातपुत लिखा है॥

╪ डाक्टर हारनल की स्पीच पृष्ठ ३—"Jainism is the great Indian rival of Budhism." अर्थात्—जैनधर्म बुधमत का एक बड़ा हिन्दुस्तानी शत्रु है॥

**जैनी**—अज्ञानता से, मालूम होता है स्वमी जी जैन और बौद्ध मतों के मन्तव्यों से सर्वथा अनभिज्ञ थे—

**आर्या**—क्या किसी अन्य मतावलंबी ने भी बौद्ध और जैन को भिन्न सिद्ध किया है ?

**जै०**—जैनमत का आचाराङ्ग नाम एक सूत्र प्राकृतमें है, इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद, जरमन देश के विद्वान् डा० हरमण जकोबी ने किया है, उस की भूमिकामें अनेक प्रमाणों द्वारा जैनमत को बुद्धमत से प्राचीन और पृथक् सिद्ध किया है—जो देखना चाहे देखसकता है:—

**आर्या**—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ४३७ में लिखा है कि महावीर और गौत्तम गणधर जो हैं, उनका नाम बौद्धों ने बुद्ध रक्खा है—और जैनियों ने गणधर और जिनवर, क्या यह सत्य है ?

**जैनी**—नहीं, वह एक कदापि नहीं होसकते, निम्नलिखित चक्र से स्पष्टतया भिन्नता मालूम होजावेगी :—

| नामानि | पितुर्नाम | मातुर्नाम | जन्मस्थान | मुख्यशिष्य |
|---|---|---|---|---|
| श्रीमहावीर स्वामी | राजा सिद्धार्थ | त्रिशलादेवी | क्षत्रीकुण्ड | इन्द्रभूति गौत्तम |
| शाक्यमुनि गौत्तम | शुद्धोधन | गौत्मी | कपिलवस्तु | आनन्द |
| इन्द्रभूति गौत्तमजो श्रीमहावीर स्वामी का शिष्य थे | वसुभूति | पृथ्वी | गोवरगाम | × |

पाठकगण ! अधुना विचारें कि बौद्धमत के उपदेशक गौतमजी और जिनधर्म के उपदेष्टा श्रीमहावीर स्वामीजी दोनों एक कैसे होसकते हैं ? और कदाचित् हमारे श्रीगौतमस्वामीजी को ही शाक्यमुनि समझा जावें, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि हमारे गौतम के माता पिता जन्मस्थान बौधमती गौतम के माता पिता जन्मस्थानों से भिन्न २ हैं, डाक्टर हारनल का मानना है कि* "महावीर और बौद्ध के जीवन-चरित्रों और मन्तव्यों में

*With regard to Budhism and Jainism there are numerous coincidences in smaller details between the lives and doctrines of Budha and Mahabira, and this circumstance was long considered a good reason for discrediting the story of the latter and of the early existence of the Jain sect But the sketch of Mahabira's life which I have given above shows that in the main it was entirely different from Budha's.

असंख्य सामान्यताएं हैं, और यही खास कारण है कि पूर्वकाल में जैनधर्म की सनातन स्थिति और जैनधर्म के तत्त्वों पर अविश्वास रहा, परन्तु श्रीमहावीरस्वामी के जीवन-चरित्र से जो मैंने ऊपर लिखा है, मालूम होता है कि यह सर्वथा बौद्ध से भिन्न था" ॥

इतने प्रबल प्रमाण होने पर भी यदि पब्लिक अपने हठ को न छोड़े तो इस से अधिक हठी और पक्षपाती कौन ?

सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ४३८ पर लिखा है कि "सर्वज्ञ वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत, जिन, यह छः नास्तिकों के देवताओं के नाम हैं," स्वामीजी का यह लिखना तो उन्मत्त-वचनवत् है, क्योंकि नास्तिक लोग तो सर्वज्ञादि को मानते ही नहीं हैं, वह तो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं, यदि आप कहें कि जो वेद को न माने वह नास्तिक, तो हम कहेंगे जो जिनोक्तधर्म को न माने, वह नास्तिक है, और इस तरह से सर्व मतावलम्बी एक दूसरे को नास्तिक की पदवी देंगे, तो इस से स्वामीजी की क्या सिद्धि हुई ? कुछ नहीं, केवल वितन्डावाद और वाक्यजाल में लोगों को फंसाना है, परमार्थ कुछ नहीं, नास्तिक वह है, जो पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग और परलोकादि को न माने, परन्तु जैन इन सर्व को मनन करने वाले हैं, तो वह कैसे नास्तिक होसकते हैं, हां कदाचित यह ख्याल हो कि ईश्वर को कर्त्ता न मानने से जैन नास्तिक है, सो यह हेतु भी युक्ति प्रमाण से ग्रसित है । और इसका खण्डन हम आगे करेंगे ॥

सविस्तर खण्डन देखना हो तो श्रीमद्विजयानन्द सूरि कृत जैनतत्वादर्श, *चिकागोप्रश्नोत्तर, जैनप्रश्नोत्तरावलि, अज्ञान

---

*जसवन्तरायजैनी लाहौर-इस पते से एक रुपया में मिलसकताहै॥

तिमिरभास्करादि ग्रन्थ पढ़ लेवें—दूसरे यह कि नास्तिक को अंग्रेज़ी में (Atheist) कहते हैं, शब्द (Atheist) का अर्थ (one who denies the existance of God) अर्थात् वह जो ईश्वर के आस्तित्व को न माने वह नास्तिक हैं, ऐसा अर्थ "चेम्बर्स" आदि पाश्चिमात्य विद्वानों ने किया है, तो फिर जैन वेद को न मानने से अथवा ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता न मानने से कैसे नास्तिक हो सकते हैं ? कदापि नहीं ॥

पाठकजन ! टुक विचार दृष्टि से सोचें कि "अहिंसा परमो धर्मः" का डंका बजाने वाले, और मृषावाद, आस्तेय, मैथुन, परिग्रहादि मोहजालसंत्यक्त होकर निरन्तर जीवों के हितार्थ धर्मोपदेश देने वाले हमारे तीर्थंकर नास्तिक नहीं हो सकते हैं नास्तिक वह हैं, जो हिंसोपदेशक शास्त्रों को मनन करने वाले है, और सदा स्त्रियों को पास रखने वाले हैं, और भंग, पोस्त, अफीम, चरस मधकादि के भोगी—अथवा नियोग के उपदेशक है ॥

पृष्ठ४३९ पर लिखा है कि "जो अनादि ईश्वर न होता, तो "अर्हन" देव के माता पिता आदि के शरीर का सांचा कौन बनाता ?" वाह जी वाह ! खूब दूर की सोची, क़ाज़ी जी तुम क्यों दुबले हुए ? शहर के अन्देशे (फिकर), स्वामीजी ! जैनियों को यह चिन्ता नहीं क्योंकि हम जैनी तो जगत् को अनादि मानते हैं, परन्तु यह दूषण तो आप को खूब शोभेगा, क्योंकि आप देहरहित ईश्वर से स्थूल जगत् की उत्पत्ति मानते है ॥

अंगोपांगादि विना स्थूल पदार्थोत्पत्ति कदापि नहीं हो

सकती, इसलिये आपका निराकार ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता*॥

फिर स्वामीजी पृष्ठ ४३८ पर लिखते हैं कि " जो रागादि दोषों से सहित होकर पश्चात् दोष रहित होता है, वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जिस निमित्त से वह रागादि से मुक्त होता है, वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उसका कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी" यदि स्वामीजी जैनमुक्ति के स्वरूप को जानते तो ऐसा अविचारा वचन न लिखते, निमित्त से मुक्ति नहीं होती, प्रत्युत निमित्त के अभाव से, देखो, कर्म रूप निमित्त को पाकर जीव संसार में रुलता है, उस निमित्त को क्षय कर देने से मुक्त होता है—यह जैनसिद्धान्त है। स्वामीजी की मानी मुक्ति बहुरुपीयों का खेल है, जो जीवों का मुक्ति से लोट आना मानते हैं॥ पृष्ठ ४३९ पर स्वामी जी लिखते हैं " जो अल्प और अल्पज्ञ है, सो सर्व-व्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का स्वरूप एक देशी और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है" स्वामी जी की यह भी भूल है, क्योंकि जैनी जीव को सर्वव्यापक ही नहीं मानते, जब अल्प सर्वज्ञ नहीं होसकता, तो क्या सर्वव्यापक सर्वज्ञ हो सकता है? कदापि नहीं, आपके माने हुए ईश्वर में जड़पना सिद्ध होता है:—

---

* उर्दू जाननवाले लाला नत्थूराम जैनी जीरा जिला फीरोज़पुर से चिकागोप्रश्नोत्तर उर्दू मंगवाकर पढ़ेंगे तो मालूम होजावेगा। ईश्वर जगतकर्त्ता सिद्ध नहीं होसकता है॥

तथाचानुमानं।

भवदभिमतईश्वरो जड़ः सर्वव्यापकत्वात् योयः सर्वव्यापकः स: स जड़ः यथाकाशस्तथा चायं तस्मात्तथेति ॥

भावार्थ—आपका माना हुआ ईश्वर जड़ है, सर्वव्यापक होने से, जो जो सर्वव्यापक है, सो सो जड़ है, यथा आकाश, तथैव आपका माना हुआ ईश्वर है ॥

फिर स्वामीजी लिखते है कि "अल्पज्ञ सर्वज्ञ नहीं हो सकता" यह भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि जीव का ज्ञान न्यूनाधिक होता रहता है, बालकावस्था में न्यून ज्ञान होता है, और तरुणावस्था में कई गुणा विशेष होजाता है, कई एक ऐसे भी है कि तरुणावस्था में भी निर्बुद्धि ही रहते हैं, कई एक बालकावस्था में ही विशेष बुद्धिमान होते है, यदि जीवों में एक सरीखा ज्ञान है तो इतने भेद क्यों हो गये, यदि कहोगे कर्मानुसार, तो फिर "अल्पज्ञ सर्वज्ञ नहीं होसकता" यह नहीं कहना चाहिये। यथा बालकावस्था की अपेक्षा तरुणादि अवस्थाओं में ज्ञान की विशेषता होती जाती है, तथैव शुभ निमित्तों द्वारा कर्मोन्मूलन होने पर जीव को विशेष ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञपना प्राप्त होता है—प्रत्येक जीवात्मा में सर्वज्ञपना की शक्ति है; परन्तु अशुभ कर्मों के आवर्ण से आच्छादित है, जिन जीवाताओं पर अधिक आवर्ण है, उनको ज्ञान न होने से मूर्ख कहलाते हैं, और जिन जीवात्माओं पर विशेष आवर्ण नही, वह बुद्धिमान् कहलाते है, और जिन जीवात्माओं ने जप तप दान शीलादि शुभ कृत्यों

का सेवन कर समस्त आवर्ण दूर कर दिये, वह सर्वज्ञ त्रिकाल-दर्शी कहलाते हैं, जैनी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाणों को मानते हैं, इसलिये स्वामीजी का यह लिखना कि "क्या तुम जो प्रत्यक्ष पदार्थ हैं उन्हीं को मानते हो अप्रत्यक्ष को नहीं?" सर्वथा असिद्ध है—

पृष्ठ ४४० पर तीन श्लोक लिख कर व्यर्थ कागज काले किये हैं, किसी ग्रन्थ का प्रमाण नहीं दिया—स्वामीजी थे बड़े होश्यार और चालाक कि श्लोक लिखने तौतातियों के और नाम रख देना जैनीयों का—

पृष्ठ ४४१ से ४४४ तक आस्तिक और नास्तिक का संवाद लिखा है और प्रकरण रत्नाकर को असत्य ठहराने का प्रयत्न किया है। यद्यपि स्वामीजी ने इस में अयोग्य शब्दों का प्रयोग किया है, और जैनीयों पर कटाक्ष भी किये हैं तथापि "शठं शाठ्यं कुर्यात्" के न्याय को भूल कर और मुख्य क्षमाधर्म का ध्यान कर हम अनुचित शब्द लिखना उचित नहीं समझते, सरल और कोमल शब्दों में स्वामीजी के संवाद का खण्डन नीचे लिखते हैं, और पाठकगण से प्रार्थना करते हैं कि पक्षपात को त्याग कर तत्व को विचारें—

**आर्या**—क्यूं जी, क्या जैनी यह मानते हैं कि कुछ भी ईश्वर की इच्छा से नहीं होता, वलकि कर्म से होता है?

**जैनी**—हां, वेशक

**आर्या**—यदि सब कुछ कर्म से होता है तो कर्म किस से होता है?

**जैनी**—आपके स्वामीजी ने माना है कि कारण का कारण नहीं होता तो फिर ऐसे प्रश्न करते लज्जा आनी चाहिये—

**आर्या**—स्वामीजी ने कहां लिखा है ?

**जैनी**—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२५ पर लिखा है कि जो केवल कारण रूप ही है वह कार्य किसी के नहीं होते, और इसी की पुष्टि में सांख्यमत का सूत्र लिखा है।

**मूलेमूलाभावादमूलं मूलम्** । सांख्य द० अ० १ मू० ६७

भावार्थ—मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता—इससे अकारण सब कार्यों का कारण होता है—सारांश यह कि यथा आप आदि प्रकृति की उत्पत्ति किसी से नहीं मानते, तथैव यदि कर्मों को भी मान लेते तो इतना वितण्डावाद न करना पड़ता—

**आर्या**—यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप का फल दुःख जीव स्वेच्छा से कदापि न भोगेगा, यथा चोर चोरी का फल दुःख स्वेच्छा से नहीं भोगता, राजा द्वारा भोगता है, इसी तरह जीव पुण्य पाप के फल जीवको ईश्वर देता है—

**जैनी**—वाह जी ! वाह, खूब सुनाया, यदि पाप के फल दुःख स्वतः भोगने वाला आप जीव को नहीं मानते तो खैर न मानो, परन्तु पुण्य के फल सुख स्वतः भोगने वाला जीव आप को जरूर मानना पड़ेगा, क्यूंकि सुखपाने की इच्छा करते हुए सर्व जीव दिखाई देते है, जब पुण्य का फल सुख जीव स्वेच्छा से पासकता है तो ईश्वर फलप्रदाता न रहा, और जीव दो प्रकार के होगये, कुछ स्वेच्छा से फल भोगने वाले और कुछ ईश्वर द्वारा फल भोगने वाले, और यह भी सिद्ध होगया कि ईश्वर समग्र जीवों का फलप्रदाता नही है ॥ चोर का दृष्टान्त भी

समीचीन न रहा, क्योंकि राजा जान कर चोरी नहीं करवाता, हर तरह से रक्षा भी करता है, तो भी चोर चोरी करते हैं, और दण्ड पाते हैं, परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान त्रिकालदर्शी है, जिस समय जो जीव बुरा कार्य करने लगते हैं, ईश्वर उसी समय क्यों नहीं रोक देता ? यदि कहोगे कि ईश्वर जानता नहीं, तो अज्ञानी सिद्ध हुआ, यदि कहोगे जानता है तो ईश्वर क्या हुआ, वह तो परम शत्रु हुआ, जो जानता हुआ भी जीवों को बुरे कामों से नहीं रोक सकता, और फिर दण्ड दुःख देने को त्यार हो जाता है, यदि कहोगे रोकने में असमर्थ है, तो उच्चस्वर से यह मत कहना कि सब कुछ ईश्वर ने ही किया है, और ईश्वर सर्वशक्तिमान है । बस सिद्ध हुआ कि जब जीव पुण्य और पाप करने में स्वतन्त्र हैं तो फल भोगने में भी स्वतन्त्र हैं यदि कहोगे कर्म जड़ है तो यथा अफीम और संखया आदि भी जड़ पदार्थों के खाने से प्राणनाश और ब्राह्मी आदि बूटियों के खाने से बुद्धि बढ़ती है, तथा कर्म जड़ शुभाशुभ फल देने सामर्थ है ।

**आर्या**—हमारे शास्त्रों में स्फुट लिखा है कि सर्व-व्यापक ईश्वर जगत् का कर्त्ता है ॥

**जैनी**—आप का सर्वव्यापक ईश्वर अक्रिय अर्थात् कुछ भी करने सामर्थ नहीं, सर्वव्यापक होने से हिल जुल नहीं सकता यथाः—

भवदभिमत ईश्वरोऽक्रियः सर्वव्यापकत्वात् ।
योयः व्यापकः सः सोक्रियः यथाकाशस्तथा चायं तस्मात्तथेति—

भावार्थ—आपका माना हुआ ईश्वर अक्रिय है सर्वव्यापक होने से, जो २ सर्वव्यापक होता है, सो सो अक्रिय होता है,

यथा आकाश तथा ईश्वर ॥ साइंस भी इसी बात को मंजूर करती है, जितनी जगह में जो स्थित है हरकत करते वक्त उस से अधिक जगह की उसे जरूरत पड़ती है आपके सर्वव्यापक को अधिक जगह ही नहीं मिलती तो बतलाइये हरकत कैसे करेगा।

**आर्या**—जिस प्रकार का कृत्रिम तीर्थंकर जीव से असत् ईश्वर बना हुआ जैनी मानते हैं, इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी बुद्धिमान नहीं मान सकता, क्योंकि यदि निमित्त से ईश्वर बने तो अनित्य और पराधीन हो जावेगा, इत्यादि—

**जैनी**—हमने निमित्त से जीव को ईश्वर होना नहीं माना, प्रत्युत निमित्त के अभाव से माना है, इसपर सविस्तर विचार मुक्ति के स्वरूप में वर्णन हो चुका है, वहां से देख लेवें—

प्रिय पाठकगण! जीव और ईश्वर में केवल इतना ही भेद है कि जीव कर्म सहित है और ईश्वर कर्म रहित है यथा खान में पड़ा हुआ मलयुक्त स्वर्ण मट्टीसा है, परन्तु तापन शोधनादि प्रयोगों से शुद्ध स्वर्ण बनजाता है, तथैव मल सहित संसारी जीव जब तप जप शील संयम सन्तोषादि शुभ सामग्री के मिलने से कर्ममल का सम्यक् अभाव कर देगा, तब ईश्वरशक्ति जो कर्म मल से आच्छादित थी, कर्ममल के नष्ट होने से स्वतः प्रकाश हो जावेगी और जीव को ईश्वर पद प्राप्त हो जायगा, विचारणीय केवल इतना ही है कि खान के मलयुक्त स्वर्ण समान तो संसारी जीव कर्म सहित है, और शुद्ध किये हुए स्वर्ण समान ईश्वर परमात्मा सर्व कर्म रहित मुक्तात्मा है, और कर्मजन्य सर्व उपाधि के दूर हो जाने से वह ईश्वर परमात्मा मुक्तात्मा किसी को फल-प्रदाता नहीं हो सकता, परन्तु लोकालोक के स्वरूप को निज ज्ञान से देखता है, इसलिये पत्थर की तरह जड़ भी नहीं।

स्वामी जी लिखते हैं कि मुक्ति में रहे हुए जीव कुछ भी चेष्टा नहीं करते तो मुक्ति क्या हुई किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये ऐसे लेख पर हमें हंसी आती है कि स्वामीजी कैसी अनोखी बोली बोलते हैं, यदि चेष्टा में ही मुक्ति है तो गधा को भी मुक्तात्मा कहना चाहिये, वह भी तो धूल में चेष्टा करने से आनन्द मनाता है, वास्तव में स्वामीजी मुक्ति के स्वरूप और मुक्ति के सुखों के लक्षण जानते ही नहीं थे।

**आर्या**—कर्म और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? और कब तक रहता है —

**जैनी**—जीव के साथ कर्म का संयोग सम्बन्ध है, और इस की स्थिति व्यक्तिवाले भवों की अपेक्षा करके अनुमान से सादि सांत है और अनादि भवों की अपेक्षा से कर्म समुदाय के प्रश्न में अनादि अनन्त भी है और अनादि सांत भी है, मुक्त-गामी भव्यजीवों के साथ अनादि सांत है, और अभव्यों के साथ अनादि अनन्त भी है, यदि कहोगे अनादि वस्तु अन्तवाली नहीं होती, तो आपका यह कहना मिथ्या है, सुनिये, एक पुरुष ने किसी बालक से पूछा कि तू किसका पुत्र है, उसने उत्तर दिया अपने पिता का, उस पुरुष ने फिर पूछा तेरा पिता किस का पुत्र है, उसने कहा वह अपने पिता का, यथा पिता पुत्र के प्रवाह की आदि नहीं, परं जब वह बालक मृत्यु होजाये तो अन्त होसकता है, इसलिये आदि वस्तु अंतवाली भी हो सकती है, मालूम होता है, कि स्वामीजी ने वैशेषिक तथा न्यायदर्शन के पुस्तक नहीं देखे थे, अन्यथा उनके रचे ग्रन्थों में यह प्रतिज्ञा न होती कि जो अनादि है वह सान्त नहीं होता. क्योंकि आपके ही महर्षियों ने प्राग भाव को अनादि सान्त माना है॥

आर्या—क्या आप ईश्वर को सर्वव्यापक मानते है ?

जैनी—नहीं, क्योंकि यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मानें, तो मल मूत्र में भी ईश्वर का होना मानना पड़ेगा, जब ऐसे अनिष्ट घृणीय पदार्थों में ईश्वर प्रवेश कर गया तो फिर मल कृमियों से भी अधम हुआ, क्योंकि मल के कीड़े तो कर्मवश से मल में पड़े हैं और कभी निकलभी पड़ेंगे, परं आपका ईश्वर स्वतन्त्रता से ही मलमूत्र में जाघुसा और वहां से निकल भी नहीं सकेगा, इसलिये ईश्वर को हम जैन सर्वव्यापक नहीं मानते हैं ॥

आर्या—हम ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानते हैं और आप क्यों नहीं मानते ?

जैनी—जगत का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकता, अतः हम कर्त्ता नहीं मानते। यदि ईश्वर की शक्ति से जगदोत्पत्ति होती तो माता पिता आदि की क्या जरूरत थी ॥

आर्या—ईश्वरीय सृष्टि का उत्पन्न करने वाला ईश्वर है, परन्तु जीवीय सृष्टि का नहीं। जो कार्य जीवों को करने योग्य हैं। उनको ईश्वर नहीं करता, जीव ही करते हैं, यथा वृक्ष फल अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किये, उन पदार्थों को लेकर अपने जीवन के निर्वाह वास्ते भोजनादि बनाना जीवों का काम है, जीवों के शरीरादि का बनाना ईश्वर का कार्य है, और फिर उनसे संतानादि उत्पन्न करना जीवों का कार्य है ॥

जैनी—जैसे आदि में ईश्वर ने जीवों के शरीरादि बनाये, वैसे अब क्यों नहीं बनाता, यदि समय २ बनाता रहता, तो क्या ही अच्छा होता, भोग कर्म से जीव पाप न करते, अनन्त शक्तिमान् ईश्वर में क्या इसकी न्यूनता थी ?

**आर्य**—यदि ईश्वर जगत् का कर्त्ता और फलप्रदाता नहीं तो जीवों को कर्मों का फल कौन देगा ?

**जैनी**—जीव कर्मों के फल को स्वतः ही भोगता है, यथा भंग के नशे को आपही भोगता है, ईश्वर का कोई काम नहीं—इस बारे में पहले भी वर्णन होचुका है ॥

**आर्य**—आप एक ईश्वर मानते हैं, वा अनेक !

**जैनी**—एक भी, अनेक भी ॥

**आर्य**—यह कैसे ?

**जैनी**—व्यक्ति की अपेक्षा अनेक, जाति की अपेक्षा एक ॥

**आर्य**—जैसे जीव अनेक होने से लड़ते हैं, वैसे ईश्वर भी अनेक होने से अवश्य दंगा फसाद करेंगे ॥

**जैनी**—आपका यह कहना अल्पज्ञता का चिन्ह है, जीव तो रागद्वेष सहित हैं, और लड़ते हैं, परन्तु ईश्वर परमात्मा रागद्वेषादि सर्व दूषणों से विमुक्त है, इसलिये कोई भी लड़ाई झगड़ा संभव नहीं, कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है ॥

**आर्य**—क्यों जी, ईश्वर जगत् का कर्त्ता है वा नहीं ?

**जैनी**—आप तो बड़े बुद्धिमान् है, बार २ एक ही बात को पूछे जाते हैं, पहले हम सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर जगत् का कर्त्ता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता, अनादि काल, स्वभाव, नीति, कर्म और उद्यम इन पांच कारणों से यह संसार अनादि ही द्रव्यार्थिक नय के मत से नित्य और पर्यायार्थिक नय के मत से अनित्य चला आता है. और इसीतरह चला जायेगा ॥

**आर्य**—यह जैनियों की कैसी भूल है, क्या विना कर्त्ता कोई

कर्म और विना कर्म कोई कार्य जगत् में है ? यह तो ऐसी बात है कि जैसे खेत में अनाज स्वतः उत्पन्न हो आटा बन रोटी तय्यार हो जैनियों के पेट में चली जावे ॥

**जैनी**—पांच कारणों के द्वारा जड और चेतन के संयोग से संसार की रचना अनादि अनन्त चली आती है, और अपने किये उद्यम से कर्मानुसार जीव स्वतः ही फल भोगते हैं ऐसा अटल सिद्धान्त माननेवाले जैनियों ने उद्यम—पुरुषार्थ को पांच कारणों में माना है, यह तरक तो आप पर हो सकती है, जो ईश्वर को फलप्रदाता और सर्वशक्तिमान मानते हैं, आपको चाहिये कि अनाज बीजते हुए, काटते हुए, पीसते हुए और रोटी पकाते हुए, ईश्वर को आप दिखा दें, तब तो हम भी मान लें कि ईश्वर कर्त्ता है, अनाज बीजें, काटें, पीसे और रोटी बनावें आप, नाम ईश्वर का, जो कुछ करतीं है वही कर्त्ता करता है—ईश्वर की सर्वशक्ति तो तब मालूम हो जब जीवों के परिश्रम विना अऋतु में नियमित काल से पहले अनाज त्यार हो जावे और रोटी त्यार हो कर समाजीयों के मुंह से विना दांत हिलाए पेट में जा ठसे—

**आर्या**—क्या कोई ऐसी युक्तियें भी हैं कि जिन से ईश्वर जगत का कर्त्ता सिद्ध न हो ?

**जैनी**—हां ! अनेक युक्तियों से अनेक शास्त्र भरे पडे हैं, परन्तु आप की इतनी बुद्धि नहीं कि उन को समझ सकें, तथापि किंचित् दिखाते हैं, यदि ईश्वर विरक्त है तो संसार के झगड़ों में क्यों पड़ा ? देखते है कि जो साधु सन्त महात्मा पुरुष हैं वह भी संसार के झगडों में नहीं पडते, तो सर्वोपरि होकर ईश्वर क्यों ऐसे कार्य में प्रवृत्त हुआ ? यदि ईश्वर मोहित है तो वह

जगत् बनाने के योग्य ही नहीं, क्योंकि जो आपही मोह में वशीभूत उन्मत्तसा हो रहा है, वह ऐसा कार्य कैसे करसकता है—

आर्या—ईश्वर में वैराग और मोह कभी नहीं होसकते ॥

जैनी—यह कहना आपके सिद्धान्त और नीति के अनुकूल नहीं है—क्योंकि जहां अन्धकार नहीं वहां तेज और जहां तेज नहीं वहां अन्धकार जरूर होता है, इसीतरह जिसमें मोह नहीं, उस में वैराग होगा, और जिसमें वैराग नहीं, उसमें मोह अवश्य होगा, इसलिये आपका ईश्वर मोहित वा विरक्त जरूर होना चाहिये, किसी भी पक्षमें आपका छुटकारा सम्भव नहीं, उचित है कि आप पक्षपात को परित्याग सत्यधर्मोपदेशकर्त्ता श्रीतीर्थंकर भगवान की शरण लें और जहालत के समुद्र में डूबने से बचें ॥

पृष्ठ ४४८ पर लिखा है कि "जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह अनादि और अनन्त कभी नहीं होसकता और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता, जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब संयोग उत्पत्ति विनाशवाले देखे जाते हैं, पुनः जगत् उत्पन्न और विनाशवाला क्यों नहीं इत्यादि" ? स्वामीजी का ऐसा लिखना उनकी जैनधर्म से अनभिज्ञता का ही सूचक है, क्योंकि जैन इस संसार को प्रवाह से अनादि मानते हैं, यथा मनुष्य की उत्पत्ति संयोगसे है अतः अनित्य है, परन्तु मनुष्यत्व अनित्य नहीं होसकता, अर्थात् मनुष्यजाति का नाश कभी नहीं होसकता, ऐसा कोई दिन न होगा, कि मनुष्यजाति सर्वथा इस जगत् में विनष्ट हो जावे, हमारे तीर्थंकर महाराज का कथन हैं कि यह संसार कदापि विनाशभाव को

प्राप्त न होगा, एककी मृत्यु दूसरे का जन्म, पुरानी वस्तु का नाश नवीन की उत्पत्ति यह चक्र निरन्तर चला जावेगा, कदापि समाप्त न होगा, इसलिये यह जगत् अनादि अनन्त है,कदाचित् महाप्रलय में जगत् का विनाश होजाना कहो तो वह भी युक्ति-प्रमान से सिद्ध न होगा॥

फिर स्वामीजी तरक करते हैं कि "पृथिवीकाय अर्थात् पृथिवी भी जीव का शरीर है और जलकायादि जीव भी मानते हैं, इसको कोई भी नही मान सकता" पृथिवीकाय में अनुमान प्रमान से जीवों का होना सिद्ध है अतः स्वामीजी की कुतरक व्यर्थ है॥

**आर्या**—कृपया आप कहदीजिये, वह कौनसे प्रमान हैं?

**जैनी**—सुनिये,पर्वतादि मे स्व स्वस्थान में स्थित पाषाण छोटे से बड़े होते दिखाई देते है, इसलिये पृथिवीकायमें जीव हैं, क्योंकि विना जीव के वृद्धि नही होसकती॥

**आर्या**—पर्वत पाषाणादि कठिन होने के कारण सजीव नही होसकते—

**जैनी**—यथा सजीव शरीर मे अस्थियें कठिन होने पर भी सजीव है, तथैव जीवानुगत पृथिवीकाय का शरीर सजीव है, इसीप्रकार जलकाय भी सजीव है, क्योंकि यंत्रादि से नाशरहित द्रव्यरूप होने से सजीव है,यथा अण्डे का पानी,इस हेतु में विशेषण के ग्रहण करने से मूत्र और दूध आदि द्रव्यों में व्यभिचार नहीं आसकता,इसीतरह अग्नि भी जीवों का शरीर अर्थात् सचेतन है, जैसे रात को खद्योत(टटाना पञ्जावी)का शरीर जीवशक्ति से वना हुआ

प्रकाशवाला है, वैसे ही अग्नि भी प्रकाशवाली होने से सजीव है, और जैसे ज्वर की शक्ति विना जीव के नहीं होती, वैसे ही अग्नि में भी जीवों के विना ऊष्णता नहीं होसकती, क्योंकि मृतक शरीर में ज्वर नहीं होसकता, अतः अन्वय व्यतिरेक करके अग्नि को सजीव समझना चाहिये, अत्र योग यह है कि चंगाडी आदि प्रकाश परिणाम आत्मा के संयोग से प्रकट हुआ है, यथा शरीरस्थ होने से खद्योत के शरीर का परिणाम—और आत्मा संयोग पूर्वक शरीरस्थ होने से ज्वरशक्तिवत् अग्नि के अंगारों में ऊष्णता है, अतः सिद्ध हुआ कि अग्नि सजीव है, यदि कहो कि सूर्य ऊष्ण है परं सजीव नहीं, तो आपका यह कहना भी सत्य नहीं, क्योंकि सूर्यादि भी सचेतन हैं, अग्नि की सचेतनता में एक और प्रमाण यह भी है कि यथायोग्य आहार करने से अग्नि मनुष्य के समान उन्नति और अवनति करती दिखाई देती है, अतः अग्नि सजीव है, क्योंकि विना चेतन के उन्नति और अवनति नहीं होसकती, तथैव वायु भी सचेतन है, प्रयोग यह है—कि विना दूसरे की प्रेरणा के नियम करके तिर्यक् गति होने से गोमहिषादिवत्—तिर्यक् गति के नियम करने से प्रमाणु के साथ व्यभिचार नहीं, इस अनुमान से सिद्ध हुआ कि शस्त्र पंखादि से नाशरहित वायु सचेतन है, और वनस्पति में तो जीव प्रत्यक्ष ही सिद्ध हैं, विना जीव के बढना घटना नहीं होसकता ॥

स्वामीजीने पृष्ठ ४४९,४५६ में जो २ तर्कें की हैं, उनका खण्डन सुनिये, जैनी जो समय, आवलि, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष,

मास, वर्ष, पल्योपम और सागरोपम इत्यादि काल की संख्या मानते हैं इस पर स्वामीजी लिखते हैं, कि जैनियों के पल्योपम और सागरोपम का मापा ठीक नहीं, क्योंकि कूप का वालों के वारीक टुकड़ों से भरना और अनुक्रम से एक एक निकालना यह बात वन नहीं सकती, स्वामीजी का यह लिखना ही मिथ्या है, क्योंकि जैनी कव कहते हैं ? कि वालों के टुकड़ों से अमुक पुरुष ने कभी ऐसा कूप भरा है ? और एक २ टुकड़ा अनुक्रम से निकाला है ? जैनियों का तो यह कहना है कि यदि कोई ऐसा करे, और उसमें जितना काल लगे. उतने काल का नाम पल्योपम है, यह दृष्टान्त समझाने के लिये है न कभी किसी ने किया है और न कोई करसकता है—स्वामीजी क्यों खिन्न हुए ? क्या नास्तिकों की तरह अनुमान प्रमान को नहीं मानते थे ? स्वामीजी के निराकार ईश्वरने जो इस सृष्टि से पहले सृष्टि रची थी, और उससे अनन्त काल पहले इसी तरह रची होगी, ऐसा जो माना जाता है, तो क्या उस अनन्त काल की गणना करके कोई आर्यासमाजी वतला सकता है ? यदि कहो अनुमान प्रमान से वता सकता है, तो फिर पल्योपम और सागरोपम के प्रमान को जैनी क्यों नहीं वता सकेंगे । अपितु वता सकेंगे, जब जैनी जगत् को ही अनादि सिद्ध करते हैं, तो पल्योपम और सागरोपम की गणना को सिद्ध करना कोई दुःसाध्य नहीं, यदि कहोगे आर्यसमाजी नहीं कह सकते, तो जैनियों के तीर्थंकरों को धन्यवाद दो, कि जो हमारे समझाने के लिये दृष्टान्त देगये हैं, अव वतलाइये अज्ञानी कौन हुए ? आपही ॥

पृष्ठ ४४७ पर स्वामीजी लिखते हैं कि जैनियों का योजन

१०००० दश हजार कोशों का होता है,स्वामीजी के मिथ्यावाद का यह एक नमूना है, क्योंकि जैनों के किसी शास्त्र में भी ऐसे नहीं लिखा ॥ शोक है स्वामीजी तो मृत्यु को प्राप्त होगये, यदि अब भी उनके भक्तों को उनके सत्य पर विश्वास और मान है, तो जैनशास्त्रों से सिद्ध कर दिखावें, क्योंकि उनके भक्तों को उचित है कि गुरु के सत्य को प्रकाश करें, इसी से स्वामीजी की सचाई मालूम होसकेगी। फिर स्वामीजी लिखते हैं, ४८ कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी,और किसका भाग जो इतनी बड़ी जूं देखे, स्वामीजी का यह लिखना सर्वथा असत्य है, क्योंकि किसी भी जैनशास्त्र में ४८ कोसकी लम्बी जूं नहीं लिखी, यदि स्वामीजी सत्यवादी थे,तो किसी शास्त्र का प्रमाण क्यों नहीं लिखा, हे स्वामीभक्त ! क्या परिव्राजक पदवी का यही सार निकाला है कि औरों को अनहोए दूषण लगाये जावें—

फिर स्वामीजी लिखते है कि जैनी ४ कोश का विच्छू और मक्खी मानते हैं—स्वामीजी का यह लिखना सर्वथा असत्य है, स्वामीजी असली आशय को नहीं समझे, विना गुरुगमता के जैनशास्त्रों का समझना असम्भव है, जैन लोग तीन प्रकार की अंगुली मानते हैं, सब से छोटी उत्सेदांगुल होती है, इसका हिसाब लगाकर स्वामीजी लिखते तो ठीक था—परन्तु स्वामीजी का असली मन्तव्य ही था कि मिथ्याआरोप लगाकर अपना स्वामीपना प्रकाश करना,सो कबतक,जबतक कोई उत्तरदाता नहीं मिलता॥ किसी द्वीप और किसी समय की बात,उसको इस समय और इस भारतवर्ष में लगाना कैसे ठीक होसकता है, स्वामीजी औरों

का तो उपहास्य करना जानते है,परन्तु अपना उपहास्य होता भान नहीं होता, सत्य है, "मुल्लां वैद्य मशालची तीनों एक समान औरों को चांदन करें आप अन्धेरे जान"—और इस समय तो स्वामीजी है हीनहीं,मृत्य भाव को प्राप्त होगये है परन्तु उनके भक्तजन वेशक विचार सकते है कि स्वामीजी के लेख कहां तक सत्य हैं देखिये

पृष्ठ२५३पर लिखा है कि "तेतालीस लाख बीस सहस्र वर्षो की एक चतुर्युगी दो सहस्र चतुर्युगियों का एक आहोरात्र ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष ऐसे शत वर्षों का एक प्रांतकाल होता है" अब देखिये सामान्य बुद्धिवाला भी जानता है कि २४ घण्टे का अहोरात्र (दिनरात्र) होता है, और स्वामीजी ने (८,६४,००००००० ) आठ अर्व चौसठ क्रोड़ वर्षों का एक अहोरात्र ( दिनरात ) बनाया, स्वामी जी जैनियों पर तो कटाक्ष करने को उद्यत होगये, परं अपनी लेखनी पर ध्यान नहीं दिया, शायद भूलगये। समुद्रों में रहने वाले जलचरों के शरीर का माप वगैरह जो कुछ भी जैनशास्त्रों में लिखा है, सो सभी उत्सेदांगुल के हिसाब से है जो हिसाब स्वामीजी के स्वप्नगत भी नहीं, जैनी समुद्री जीवों का शरीर जो हजार योजन का मानते हैं सो इसी हिसाब से है, सुनने में भी आता है कि एक प्रकार की मछली Whale कई कोस लम्बी होती है, जो जहाज को भी उलटा देती है, स्वामीजी को जैनियों के लेख पर इतनी चिन्ता क्यों हुई, जैनोंने भारतवर्ष के समुद्रों में ऐसे बड़े मच्छों का होना कब लिखा था ?

पृष्ठ४४८पर लिखा है कि "अब इस पृथिवी में "जम्बूद्वीप" प्रथम सब द्वीप के बीच में है, इसका प्रमाण एकलाख योजन

अर्थात् एकअरब कोशका है.इत्यादि" स्वामीजीकी यह कल्पनायें व्यर्थ हैं.जैनियों के किसी भी शास्त्र में नहीं लिखा कि जम्बूद्वीप एक अरब कोशके प्रमाण है। और लवणसमुद्र दो अरब कोश के प्रमाण है, परन्तु स्वामीजी अन्य लोकों को बहकाने वास्ते ऐसी २ व्यर्थ बातें लिखकर कागज काले करने मे बड़े होश्यार थे, न जाने, असत्यप्रकाश का कन्ट्रेक्ट ही लेरखा हो, फिर स्वामीजी लिखते है कि " जैनी लोग अपने पुस्तकों को किन्हीं विद्वान अन्य मतस्थों को नहीं देते इत्यादि " स्वामीजी का यह लेख तो ऐसा है जैसे कोई कहे "ममसुखे जीव्हा नास्तिक"—यदि जैनी अपनी पुस्तकें किसी को नहीं दिखाते तो स्वामीजी ने जहां कहीं जैनग्रन्थों का प्रमाण दिया है, वह ग्रन्थ कहां से लिये थे, क्या किसी जैनी से छीन लिये थे ? वा किसी गुप्त रीति से उड़ा लाये थे ? शाबाश, सत्य है, अकलमन्दों की गप्प भी तो बड़ी ही होती है । यदि जैनी अपनी धार्मिकपुस्तकें किसी को नहीं देते तो जैनों के परमपूजनीय शास्त्र आचारांग, उत्तराध्ययन, सूयगडांग, उपासकदशा आदि प्राकृत भाषा से अंग्रेजी भाषा मेंकैसे होगये,अमरीका, जरमन,लण्डन आदि नगरों की लायब्रेरियों में जैनों के अनेक ग्रन्थ सुरक्षित पड़े हैं, जो चाहे, मुम्बई, भावनगर, अहमदाबाद और लाहौर आदि शहरों से मंगवा सकता है, स्वामीजी ने तो जो मन में आया घसीट मारना यही धर्म मान रखा था ॥

पृष्ठ४४९ पर जगत् कर्त्ता के बारे में लिखा है। इसका खण्डन पहले कर भी चुके हैं, जिसको विशेष खण्डन देखने की इच्छा हो । वह स्याद्वादमंजरी,नंदीसूत्र और सूयगडांग आदि ग्रंथ देखले ॥

फिर स्वामीजी लिखते हैं कि जैन द्रव्य पर्यायों को अनादि अनंत मानते हैं—स्वामीजी का यह लेख असत्य है। क्यूंकि जैनी पर्यायों को अनित्य मानते हैं, और द्रव्य को नित्य मानते हैं—द्रव्यार्थिकनय नित्यपने को सिद्ध करता है और पर्यायार्थिकनय अनित्यपने को सिद्ध करता है। जिन हालतों को जैनी अनित्य मानते है उन को नित्य लिखना कैसी बेसमझी है।

पृष्ठ ४५० पर लिखा है कि जो जड़ है उन में पुण्य पाप कभी नहीं हो सकता, यह लिखना भी अस्त्य है क्यूंकि जैनी जड़ में पुण्य पाप नहीं मानते हैं, स्वामी जी का यह स्वभाव अच्छा न था कि अभिप्राय को तो समझना आप नहीं, और तर्क वितर्क करने को त्यार हो जाना, इसी पृष्ठ पर जो श्लोक लिखा है यदि उसका अर्थ स्वामीजी समझते तो कदापि न लिखते कि पुद्गल जो जड़ हैं उन में पुण्य पाप नहीं हो सकते श्लोक का यह अभिप्राय नहीं कि जैनी जड़ में पुण्य पाप समझते हैं॥ फिर स्वामीजी ने अल्प और अल्पज्ञता के वारे में जो कुछ लिखा है उसका खंडन पहले हो चुका है॥ फिर स्वामीजी ने लिखा है कि अनादि कर्म और बंध का छूटना नहीं होसकता है इसका खण्डन भी पहले हो चुका है॥ फिर स्वामीजी लिखते हैं कि जो अनादि का भी नाश मानोगे तो तुम्हारे सब अनादि पदार्थों के नाश का प्रसंग होगा, इत्यादि” स्वामीजी का यह लिखना तब सत्य हो सकता है कि जब जैनी एक ही भंग को मानते हों, जैनी युक्ति प्रमाण से कर्म और जीव के सम्बन्ध में तीन भंग मानते हैं सादि सांत सम्बन्धी १ अनादि सांत सम्बन्ध २ अनादि अनंत सम्बन्ध ३॥ सादि सांत सम्बन्ध तहरवें गुणस्थान में

साता वेदनी कर्म का होता है, क्योंकि इसकी स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त की होती है, अनादि अनन्त सम्बन्ध अभव्यों को होता है. अनादि सांत सम्बन्ध मुक्तगामी भव्यों को होता है ॥ फरमाइये, स्वामीजी की तर्क वितंडावाद नहीं तो और क्या ?

फिर स्वामीजी ने कर्मों के अभाव को निमित्त मानकर मुक्ति को अनित्य सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु निष्फल, क्योंकि अभाव कोई पदार्थ नहीं, यथा महिष के शृंग के अभाव की तरह गर्धव के शृंग का अभाव भी मालूम होता है, सारांश यह है कि सत असत रूप दोनों पदार्थों के अभाव की प्रतीति होने से बोध होता है कि अभाव कोई पदार्थ नहीं, फिर स्वामी जी लिखते हैं कि "जीव और कर्म का सम्बन्ध छिलके और बीज के समान नहीं है, इत्यादि" स्वामीजी की यह स्थापना भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव और कर्म का सम्बन्ध बीज और छिलके की न्याई ही है, यथा जीव के साथ कर्म अनादि है, वैसे धान के साथ छिलका भी अनादि है, यदि छिलके और धानका सम्बन्ध अनादि नहीं मानते, तो बतलाइये, किस दिन धान के साथ छिलका लगा, यदि कहो कि जिस दिन ईश्वर ने जगत रचा, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वामीजी का मानना है कि जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को एकत्र करता है,बड़े आश्चर्य की बात है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान होने पर भी कंगालों की तरह पदार्थ एकत्र करता है. और फिर उनमें से महा तत्व बनाता है, उससे अहंकार, और फिर उनसे पांच तनमात्रा आदि अनुक्रम से सृष्टि बनाता है, अब हम पूछते है, कि जब ईश्वर इतने कष्टपूर्वक सृष्टि रचता है तो क्या उसको कोई खास जरूरत

है ? अथवा वह सूक्ष्म पदार्थ ईश्वर के पास आकर स्वतः विनति करते हैं ? यदि प्रथम पक्ष मानोगे तो ईश्वर कृत्कार्य ( करे हैं करने योग्य कार्य जिसने ) न रहेगा, क्योंकि ईश्वरको सृष्टि रचना रूप बडा भारी कार्य अभी रहता था, यदि कहोगे कि ईश्वर को कोई जरूरत नहीं, तो फिर व्यर्थ इतना परिश्रम क्यों किया, क्योंकि प्रयोजन विना मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत्त नही होता, यदि कहोगे, ईश्वर दयालु है, दया करके प्रलय मे रहे हुए जीवों को प्रलय से निकाल कर उनको सुख देने के लिये जन्म देकर उनके साथ जीवों का सम्बन्ध करता है, तो हम पूछते हैं, प्रलय में उनका क्या दुःख था ? यदि कहो वहां सुख भी क्या था ? वह तो सुषुप्ति ( गूढ़ निद्रा ) दशा में थे, उनको गूढ निद्रा से निकालना क्या कोई अल्प सुख है ? अपितु वहुत सुख है, तो फिर हम पूछते है, कि जिन जीवों को सुखी रचा उनको तो सुख दिया, परन्तु जिन जीवों को दुःखी रचा, उनको क्या सुख दिया, कुष्ट, भगंदर, जलोदर, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्ट जीवों को होते दिखाई देते है। इस दया से तो अदया ही अच्छी, विचारे जीव सुषुप्ति दशा में सुखी थीं, ईश्वर की दया ने विचारों को कष्ट खड़े कर दियें, यदि कोई सोते हुए को जगादे तो मन में दुःख मानता है, तो इन विचारे अनाथ जीवों की क्या गति कि जिनको निद्रा छुड़ाकर नरकपात रूप दुःख दिये वह जीव तो ईश्वर की वहुत प्रशंसा करते होंगे, इसको दया कोई नहीं कहसकता है,यह तो क्रूरता है,यदि कहो वह जीव आपही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, अतः ईश्वर का दोष नहीं, यह कहना भी अज्ञानता है, क्योंकि प्रथम तो उन जीवों के शरीर नहीं, शरीर के विना जिव्हा और कंठ नहीं होसकता,

जीव्हा और कंठ विना जीवों ने कैसे प्रार्थना की? दूसरे जब वह प्रार्थना करने को आ ही गये तो उनको सुषुप्ति दशा में न कहना चाहिये। कदाचित् मान भी लिया जावे तो जिन जीवों को ईश्वर ने सुखी रचा, उनकी प्रार्थना भी सफल हुई, परन्तु जिनको दुःखी रचा, वह कैसे स्वतः कष्ट में पडने की प्रार्थना करसकते हैं। यदि कहो वह जीव विनति नहीं करते, किन्तु उन जीवों के साथ जो कर्म लगे हैं, उनका फल भुगताने वास्ते ईश्वर जगत को रचता है। तो हम फिर पूछते हैं कि यदि ईश्वर उनको फल न भुगतावे तो क्या वह कर्म ईश्वर को दुःख देते हैं, कि जिनके भय से ईश्वर को सृष्टिरचना जरूरी होता है, यदि कहो, ईश्वर को जीवों के कर्मों ने क्या दुःख देना था, वह तो सर्व-शक्तिमान है, केवल क्रीड़ा के वास्ते सृष्टि रचता है, वाह जी! वाह!! अच्छा ईश्वर आपने माना है, जो अपने मनकी खुशी के लिये क्रीड़ा करके अनेक जीवों को दुःखी करता है, अनाथ जीवों को नरकपात करना दरिद्री और दुःखी करना यह कदापि दयावान का कार्य नहीं होसकता, वही बात कि "चिड़यों का मरण गंवारों की हंसी" यदि कहोगे कि ईश्वर न्यायकारी है, जीवों के कर्तव्यों के अनुसार उनको फल देता है, इसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं, यह आपका कहना भी उचित नहीं, क्योंकि आपका ईश्वर युक्तिप्रमाण से अन्यायकारी शत्रु और अज्ञानी सिद्ध होता है, सुनिये। जब जीव बुरा कार्य करता है, उस समय वा उससे पहले ईश्वर जानता है वा नहीं. यदि कहो, नहीं, तो अज्ञानी सिद्ध हुआ, यदि कहो. जानता है, तो अन्यकारी और परमशत्रु सिद्ध हुआ, क्योंकि जानता है, और रोकता नहीं, और दण्ड देने को त्यार होजाता है, विचारिये कि यदि राजा

को विदित होजावे कि अमुक स्थान में चोरी होगी, वा डाका पड़ेगा, वा अमुक मनुष्य को मार दिया जावेगा तो वह झट उसको रोकने का प्रबन्ध कर लेता है, तो वह परमात्मा जिसको आप सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ मानते हो, जान देखकर भी बुरे कार्यों से न रोके तो उसको शत्रु और अन्यायकारी कहना ही पड़ेगा, यदि कहो ईश्वर का स्वभावही अनादि काल से जगत बनाने का है, तो फिर वह विना प्रयोजन अन्य जीवों को दुःख देने के स्वभाववाला हुआ, वह कदापि ईश्वर नहीं होसकता ॥ जब जगत बनाने का प्रयोजन नही तो जगतरचना की सिद्धि आकाशपुष्पवत हुई ॥ जब जगतरचना में कोई प्रयोजन न मिला तो स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२४ में घसीट मारा कि न रचने में क्या प्रयोजन है ? आश्चर्य की बात है कि मन्द-बुद्धियों का सा प्रश्न स्वामीजी करते है, इसका उत्तर तो बालक भी देसकता है कि प्रयोजन का अभावही न बनाने का प्रयोजन है, यह सर्वसाधारण नियम है कि जिस कार्य के करने से कोई सिद्धि न हो, उसको मन्दबुद्धि भी नही करता ॥

फिर इसी पृष्ठ पर स्वामीजी लिखते हैं कि "जगत को न बनाना आलसी और दरिद्री लोगों की बातें हैं पुरुषार्थी की नहीं, और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है यदि सृष्टि के दुःख सुख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता हैं और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते है प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं—और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे देसकता, और जीव क्योंकर भोग सकते ? इत्यादि" ॥

स्वामीजी का पूर्वोक्त लेख सत्य नहीं, क्योंकि जो कार्य अकार्य हो, और उससे कोई सिद्धि न होती हो, तथा उस कार्य के करने से अनन्त जीवों को पीड़ा होती हो, तो ऐसे कार्य के कर्त्ता को **"पुरुषार्थी"** और न करने वाले को **"दरिद्री"** कौन बुद्धिमान कह सकता है ? कोई नहीं ॥ ओर स्वामीजी ने जो लिखा है कि दुःख से सुख कई गुणा अधिक होता है, और कई पवित्रात्मा मुक्ति को प्राप्त होते हैं इत्यादि, हम पूछते हैं जिन लोकों ने मुक्ति आदि के सुख पाये, भला उनको तो सुख हुआ माना गया, परन्तु जिन जीवों को दुःख प्राप्त हुआ और नरक में अनन्त दुःख मिला, उन जीवों को प्रलय से निकालकर क्या सुख दिया, उनके लिये तो ऐसा पुरुषार्थी ईश्वर न होता तो श्रेय था, वाह जी वाह ! क्या अपूर्व पुरुषार्थी ईश्वर है, जो निःप्रयोजन जीवों को दुःख देता है ॥ और स्वामीजी ने जो यह लिखा है कि प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे देसकता, और जीव कैसे भोग सकते, हम पूछते हैं कि उनको निकम्मे देखकर ईश्वर को क्या गुद गुदी उठती है ? यदि वह निकम्मे पड़े रहते तो ईश्वर की क्या हानि थी, इतना तो जरूर है कि नरक, स्वर्ग, पशु, पक्षी आदि गतियो में नाना प्रकार के फल भुगताने रूप व्याधि तो अपने साथ लगाली । दूसरा यह भी प्रश्न है, कि यदि ईश्वर सृष्टि न बनाता, और जीवों को फल न देता, तो क्या उनके पापों का फल ईश्वर को भोगना पड़ता ? यदि कहो, नहीं, तो क्यों जीवों को निःप्रयोजन दुःख दिया, यदि कहो, ईश्वर न्यायकारी है, कर्मों का फल न देवे, तो ईश्वर के न्याय में कलङ्क लगता है, यथा

कोई पुरुष चोरी वा घात करे तो राजा को कोई पीडा नहीं होती, परन्तु राजा अपने न्यायरक्षणार्थ उसको दण्ड दता है,यह कहना भी मान्य नहीं, क्योंकि जब किसी ने किसी का माल लूट लिया, और उसको मार दिया, तो राजा दण्ड न देवे तो औरो को भी ऐसी चेष्टा करने का साहस हो जाता है, राजा के भय न होने से लोक अनेक पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे, सम्भव है कई लोक दुःखी होकर राजा के राज्य को छोड़ अन्यत्र चले जावें, और राजा का राज्य और सुख नाश होजाव, इस लिये राजा तो अपने राज्य और सुखविनाश के भय से चोरों को दण्ड देता है, अब बतलाइये, यदि ईश्वर भी जीवों को दण्ड न देवे तो ईश्वर का कौनसा सुख वा राज्य नष्ट होजावेगा? यदि ईश्वर को भी सुखों के विनाश होने का भय बाकी है तो ईश्वर ही क्या? वह तो संसारी है॥ फिर यह भी हम कहते हैं कि राजा चाहता है कि मेरे राज्य में कोई चोरी न हो परं अल्प शक्तिमान् होने से असमर्थ है, आपका ईश्वर सर्व शक्तिमान् होकर भी चोर को चोरी से न हटा सके, तो सर्व शक्तिमान् किस बात का? राजा की प्रजा तो एक दूसरे को देखकर पाप कर सकती है, परन्तु जो जीव सुषुप्ति की न्याई प्रलय में पड़े हुए थे, न कुछ करते थे और न करने को समर्थ थे, यदि ईश्वर उनको दण्ड न देता, तो उसका कौनसा राज्य नष्ट होजाता? कोई भी नहीं, इसलिये सिद्ध होता है ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है॥

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४८१ पर मुक्ति का अनित्य सिद्ध करने के लिये जो २ प्रमाण दिये है, उनका खण्डन पहले

कर चुके हैं, अतः पुनर खण्डन की आवश्यक्ता नहीं, क्योंकि पुनः पुनः एक ही विषय पर लिखना बुद्धिमानों का काम नहीं, पर स्वामीजी ने पुनरुक्ति दोष का ध्यान न करके एक ही विषय को पिष्टपेशन किया है—

स्वामीजी ने लिखा है कि " जो कभी निर्मल नहीं था, तो निर्मल भी कभी नहीं हो सकेगा, जैसे शुद्ध वस्त्र में पीछे से लगे हुए मैल को धोने से छुड़ा देते हैं, उसके स्वभाविक श्वेत वर्ण को नहीं छुडा सकते, मैल फिर वस्त्र में लग जाता है, इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा " स्वामीजी का यह लेख भी समीचीन है, क्योंकि यदि धोये हुए कपड़े को ऐसे स्थान में रक्खा जावे, यहां धूम्र के पुद्गल और किसी प्रकार का मैलादि तथा मनुष्य के शरीर की सङ्गत न हो तो वह वस्त्र कदापि मैला न होगा, इसी प्रकार परम पवित्र सिद्धशिला पर रहने वाले मुक्ति के जीव मिथ्यात्व आदि सम्बन्ध से रहित मुक्ति मे रहते हुए मलीन नहीं होसकते,जीव–चैतन्य और वस्त्र–जड़, इसलिये दृष्टांत और दार्ष्टांतिक का विषमत्व है—

फिर स्वामीजी ने लिखा है कि "यदि केवल कर्म ही शरीर धारण में निमित्त हो, ईश्वर कारण न हो तो वह जीव बुरा जन्म कि जहां बहुत दुःख हों उसको कभी धारण न करे किन्तु अच्छे २ जन्म धारण किया करे" इसमें भी स्वामीजी भूले हैं, क्योंकि जैनी कर्मों से ही अच्छी बुरी गतियों में जीव का जाना मानते हैं, जीव कर्म के आधीन है, स्वतन्त्र नहीं, अतः जीव स्वेच्छा से शुभ गति को धारण नहीं कर सकता, बलकि कर्मानुसार शुभाशुभ गतियें अवश्यमेव धारण करेगा—

आर्य्य—कर्म जड हैं, वह कुछ कर नहीं सकते, इसलिये ईश्वर को फलप्रदाता मानना चाहिये—

जैनी—मदिरा और अफीम भी तो जड हैं, यथा वह अपना फल देते हैं, ऐसे ही उनके नशे की तरह कर्म स्वतः फल देते हैं, फलप्रदाता की जरूरत नहीं—

आर्य्य—यदि ऐसा ही मान लिया जावे, तो देखो सदा मदिरा पीने वाले को नशा न्यून चढ़ता है और जिसका मदिरापान का स्वभाव न हो, उसको अधिक नशा चढ़ता है, ऐसे ही सदा पुण्य पाप करने वालों को थोड़ा और कभी २ पुण्यपाप करने वालों को अधिक फल होना चाहिये ॥

जैनी—आप भी कर्म को अनादि मानते है जब अनादि काल से कर्म करने का जीव अभ्यासी सिद्ध हुआ, और अभ्यासी को कर्म का फल न होना मानते हो, तो आपका ईश्वर फलप्रदाता कैसे सिद्ध हुआ, क्योंकि आपके कहने अनुसार अभ्यासी होने से नशे की तरह कर्म फल नहीं देसकते, तो ईश्वरको फलप्रदाता मानना पड़ा, परन्तु वह ईश्वर क्या वह तो शत्रु हुआ क्योंकि बुरे कर्म तो हम को फल दे नहीं सकते थे, और ईश्वर ने फल देकर व्यर्थ दुख दिया, यदि कहो ईश्वर न्यायकारी है, तो ठीक नहीं, क्योंकि इसका खण्डन पहले होचुका है ॥

पृष्ठ ४५२ पर स्वामीजी ने जैनियों की तर्फ से प्रश्न उठाकर लिखा है कि "संयोग के विना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता" सो यह असत्य है जैनियों का यह मन्तव्य नहीं, उचित तो यह है कि जिस मतवाल की तर्फसे जो प्रश्न उठाना हो

वह उसके मन्तव्यों के अनुकूल हो और उस पर समीक्षा हो परन्तु स्वामीजी ने तो जो दिल में आया, घसीट मारा, किसी के मन्तव्यामन्तव्य का ध्यान नहीं किया और यही प्रथा प्रायः स्वामीजी को प्रिय थी—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि "जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं, उन से पूछना चाहिये कि जो ऐसा हो तो हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा"? स्वामीजी का यह लेख केवल उनकी अल्पज्ञता का सूचक है, क्योंकि जीव एक अरूपी पदार्थ है, उसको जितना स्थान मिलता है, उसी में समा सकता है—अरूपी पदार्थ का एक छोटे शरीर से निकलकर बड़े शरीर में और बड़े शरीर से निकलकर छोटे शरीर में रहना तो दूर रहो, वलकि रूपी पदार्थ भी बडे शरीर से निकलकर छोटे में और छोटे शरीर से निकलकर बडे शरीर में समा सकता है—देखिये! दीपक को एक घड़े के नीचे रखदो तो उसका प्रकाश घड़े में समा जावेगा और घड़ा दूर करदो और दीपक को एक कोठडी में रखदो तो प्रकाश कोठडी में सर्वत्र समा जावेगा—जब रूपी प्रकाश जितना अवकाश मिले उतना समा जाता है तो अरूपी आत्मा क्यों न समायेगा? अपितु अवश्य समायेगा—

सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४९३ पर षष्टिशतक की गाथा लिखकर और आप स्वामीजी समीक्षक वनकर लिखते हैं कि "अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दा युक्त इनके धर्म के पुस्तक हैं"। स्वामीजी का यह लेख मिथ्या है क्योंकि ऐसा भावार्थ वहां है नहीं—इस गाथा का तो केवल इतना ही भावार्थ है कि राग द्वेष से रहित का प्ररूपितधर्म ही भव सम्बन्धी दुःखों को नाश

करता है इसलिये रागद्वेष से सहित की सेवा में क्यों तत्पर होते हो, क्योंकि जव वह आप ही रागद्वेष में फंसे पडे हैं,तो वह जीवों का कैसे कल्याण कर सकेंगे? अव बुद्धिमानों को विचारना चाहिये, कि इस में किसी की निन्दा क्या हुई ? फिर स्वामीजी ने एक और गाथा लिखी है, उसका भी अर्थ अस्तव्यस्त किया है और समीक्षा की है कि "जव दया मनुष्यमात्र पर दया नहीं वह दया न क्षमा ज्ञान के वदले अज्ञान दर्शन अन्धेरे और चारित्र के वदले भूखे मरना कौनसी अच्छी वात है"? स्वामीजी इस गाथा का आशय ही नहीं समझे, और कल्पित अर्थ घसीट मारा है, क्या दयानन्दजी अन्डवन्ड लिखने से जैनियों का जगत् विख्यात अटल सिद्धान्त " **अहिंसा परमोधर्मः** " उड़ जायगा ? कदापि नहीं ॥

पृष्ठ ४५४ पर लिखा है कि जैनी लोग अन्यमत वालों को नमस्कार करना और रोटी कपडा आदि देना अच्छा नहीं समझते, देखो, इनकी कितनी अदया है, आदि आदि–स्वामीजी का यह लेख भी सर्वथा असत्य है, क्योंकि जैनी अनुकंपादान को बुरा नहीं समझते, जैनी दान को धर्म का मुख्य अङ्ग गिनते हैं, "**दान शील तप भावना चतुर्विधं धर्मं प्रोक्तमिति-वचनात्** " जैनियों का दान गुण जगत् विख्यात है, जैना-वतार जव संसार त्यागते हैं तो एक वर्ष पहले दान देते हैं, दान भी ऐसा जो मांगे सो पावे, मानो पृथिवी को अनृणीय कर देते हैं, विद्या दान, अनुकम्पा दान, सुपात्र दानादि कई प्रकार के दान के भेद जैनशास्त्रों में वर्णन किये है; जव जैनावतारों ने दान दिया और दानका माहात्म्य भी वर्णन किया तो जैनी कैसे निर्दयी होसकते हैं–ऐसे २ कलङ्क लगाना स्वामीजी को योग्य

न था, खैर स्वामीजी का स्वभाव ही था–सत्य है, "आदत जाय मूए टाड जाय रूए" धर्मभ्रष्ट और असत्यशास्त्रों के उपदेशकों को धर्मबुद्धि से नमस्कार करना और अन्न पान से सत्कार करना जैनी अच्छा नहीं समझते, परन्तु दीन हीन, अपाहज को दुःखिया जानकर अनुकम्पा दान देना जैनशास्त्रों में बरावर वर्णन किया है, बलकि दान शील तप भावना को ही मुक्ति का साधनभूत माना है—

फिर स्वामीजी ने लिखा है कि "मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैनमतियों ने अपना विरोधी समझकर मार डाला और आलोयणा ( प्रायश्चित्त ) करके शुद्ध होगये" स्वामी जी का यह लिखना तब सत्य होता जब स्वामीजी नमुची प्रधान का आद्योपान्त सर्व वर्णन लिखते, जिस से पवलिक को मालूम होजाता, कि वास्तव में कथानक क्या था, स्वामीजी ने तो ऐसे किया, जैसे कोई पुरुष नमाज़ नहीं पढ़ा करता था, मौलवी साहिव ने पूछा, क्यों मीयां ! नमाज़ क्यों नहीं पढ़ा करते ? उसने कहा, कि कुरानशरीफ में लिखा है कि नमाज़ मत पढ़ो, मौलवी साहिव बोले, कहां लिखा है ? तो वह बोला कि लातकराबुलस्सलाता अर्थात् नमाज़ के नजदीक मत जाओ, मौलवी साहिव ने कहा, अरे मूर्ख ! आगे भी पढ़, वातम सगारा जब स्वस्थता न हो तो नमाज़ मत पढो, वह जाहल बोला, अर्थात् सम्पूर्ण कुरानशरीफ पर तुम्हारी वा तुम्हारे वाप की श्रद्धा होगी, हम अपनी आवश्यकतानुसार अर्ध आयत निकाल लिया करते हैं, इसी तरह स्वामीजी ने भी आगा पीछा न देखा और ना ही विचारा कि इसका सारांश क्या है, झट लिख दिया, कि नमुची को मारडाला, क्या इसी में सरस्वातिपना है ?

पृष्ठ-४८८-पर यह अर्थ श्लोक लिखा है—

सर्वथाऽनवद्य योगानां त्याग चारित्रमुच्यते ।

प्रथम तो अर्थ श्लोक अशुद्ध है, इसी से आप अनुमान कर सकते हैं, कि स्वामीजी में संस्कृत की कितनी योग्यता थी, क्योंजी ! आप इसी योग्यता पर फूले नहीं समाते, कि जो एक पंक्ति भी शुद्ध नहीं लिख सके। देखिये, शुद्ध श्लोकार्ध यह है—

सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ॥

दूसरे इस का अर्थ भी अनुपम किया है कि " सब प्रकार से निंदनीय अन्यमत सम्बध का त्याग चारित्र कहाता है" प्यारे भाईयो, आप स्वामीजी की विद्वत्ता देखें, कि कैसा उनमत्तों का सा अर्थ किया है, श्लोक का सरल अर्थ यह है कि "(सर्वथा)—सब प्रकार से ( अनवद्य योगानां त्यागः ) मन वच काय के अशुभ योगों—प्रवृत्तियों का त्याग ( चारित्रमुच्यते ) चारित्र कहलाता है" देखिये, अर्थ क्या है, और समझ लिया क्या, धन्यभाग ! योग्यता हो तो ऐसी ही हो ।

पृष्ठ ४८८ पर स्वामीजी समीक्षक बन कर लिखते हैं कि जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा और अपने ही धर्म को बड़ा कहना और दूसरे की निंदा करनी है वह मूर्खता की बात है, क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है जिस की दूसरे विद्वान करें, अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं, तो क्या वह प्रशंसनीय होसकते हैं ? " स्वामीजी का यह लिखना ऐसा है कि वेश्या होकर सती होने का अर्थात् ब्रह्मचर्य्य पालने का उपदेश देवे, परन्तु ऐसी चालाकी का कौन विश्वास करता है, देखो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४४४ पर लिखा है " वेदादिसत्यशास्त्रों का आश्रय लेवो क्यों भ्रम में पड़े २ ठोकरें खाते हो ?" अब आप

सज्जनता पूर्वक विचारें कि स्वामीजी अपने वैदिकधर्म की प्रशंसा अपने मुंहसे करते हैं वा जैनी स्वमत की शोभा करते हैं ? जिस लेख पर स्वामीजी ने आक्षेप किया है वह तो है ही उपदेशक--

फिर लिखा है कि जो जैनमत में नहीं वह चाहे कितना बडा धार्मिक पण्डित हो उसको त्याग देना ही जैनियों को उचित है, स्वामी जी का यह लेख सत्य नहीं, क्योंकि श्लोक का भावार्थ ऐसे नहीं है कि जो जैनमत से बाहर हो, उसी का त्याग करना उचित है, वलकि श्लोक का तो भावार्थ यह हैं कि जो पुरुष शास्त्र का असत्य अर्थ करे, चाहे वह जैनी ही हो उसको त्याग देना उचित है, क्योंकि यदि कोई भोला पुरुष उसकी संगत करेगा तो उसके माया जाल में फंसकर वह सत्य-धर्म से वंचित रहेगा, और सत्यधर्म को अंगीकार किये विना मुक्ति नहीं होसकती, इसलिये जैसे मणिवाला भी सर्प त्यागने योग्य है वैसे वह पण्डित भी त्यागना उचित है, नहीं मालूम, स्वामीजी को जैनियों से क्या द्वेष हो गया था ?

फिर लिखा है "कि जो इनके चेले और आचार्य विद्वान होते तो विद्वानों से प्रेम करते इत्यादि" स्वामीजी का पूर्वोक्त लेख व्यर्थ है क्योंकि जैनाचार्यों की विद्वत्ता चारों ओर जगत में विख्यात है, जैनाचार्य्यों की कीर्ति चन्द्रवत् उज्वल है जो चांद पर थूकता है, उसी के मुंह पर पड़ता है यथा १ हेमचन्द्राचार्य जिनकी प्रशंसा अंग्रेज विद्वानों ने मन खोल कर की है, जिन्होंने अलंकार, व्याकरण, काव्य, कोश, न्याय, ज्योतिपादि सर्व विषयों पर अनुपम शास्त्र बनाये हैं, जिनका सिद्धहेम व्याकरण विख्यात है, २ श्रीदेवसूरी जी जिन्होंने कई मतों का पराजय किया, ३ श्री सिद्धसेनदिवाकर जिन्होंने राजा विक्रम की सभा में पण्डितों के मान को शिथिल

कर दिया, ४ धनपाल जिन्होंने राजा भोज की सभा में मान प्रतिष्ठा पाई ५ न्याय विशारद श्रीयशोविजयजी जिनको काशी ^ समग्र पंडितमंडली ने न्यायविशारद की उपधि दी, ६, और आधुनिक समय के श्रीमान् श्रीमद्विजयानंदसूरी प्रसिद्ध श्री आत्मारामजी जिन्हों की प्रशसा डाक्टर हारनल ने ऐसे की है ॥

दुराग्रहध्वान्तविभेदभानो, हितोपदेशामृतसिंधुचित्त ।
संदेहसंदोहनिरासकारिन्, जिनोक्तधर्मस्यधुरंधरोसि १
अज्ञानतिमिरभास्कर—मज्ञाननिवृत्तये सहृदयानाम् ।
आर्हततत्वादर्शं ग्रथमपरमपि भवानकृत ॥ २ ॥
आनन्दविजय श्रीमन्नात्माराम महामुने ।
मदीय निखिल प्रश्न व्याख्यातः शास्त्रपारग ॥३॥
कृतज्ञताचिन्हमिदं ग्रन्थसंस्करणं कृतिन् ।
यत्नसम्पादितं तुभ्यं श्रद्धयोत्सृज्यते मया ॥ ४ ॥

कलिकातायाम् २२ अप्रिल सन् १८९० ।

अर्थ—( १ ) हे दुराग्रह रूप अन्धेरे को दूर करने में सूर्य समान! हे हितोपदेश रूप अमृत के समुद्र में चित्त स्थापन करने वाले! हे सन्देह के समुदों को दूर करने वाले! आप जिनोक्त अष्टादश दूषण रहित सर्वज्ञप्रणीतधर्म के धुरन्धर हैं—

( २ ) आपने सज्जन पुरुषों के अज्ञान की निवृत्ति निमित्त अज्ञानतिमिरभास्कर और आर्हततत्वादर्श ( जैनतत्त्वादर्श ) ग्रन्थ बनाये हैं—

( ३ ) हे आनन्दविजय! हे श्रीमान्! हे आत्माराम! हे महामुने! हे मेरे संपूर्ण प्रश्नोंके उत्तर देनेवाले! हे शास्त्रों के पारगामी!

( ४ ) हे पुण्यात्मन् ! आपने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसके बदले में कृतज्ञता के चिन्ह रूप यत्न से प्राप्त किये इस पुस्तक को श्रद्धापूर्वक मैं आपको अर्पण करता हूं—कलकत्ता २२ अप्रैल १८९०—

तथा—[दी वर्ल्डस पार्लिमेंट आफ रिलिजन्स ] इस नाम के शहर लंडन में छपे पुस्तक के २१वें सफेपर श्रीमुनि आत्मारामजी महाराज की फोटो दी है, और उसके नीचे ऐसे लिखा है :—

No man has so peculiarly indentified himself with the interests of the Jain community as Muni Atmaram ji. He is one of the noble band sworn from the day of initiation to the end of life to work day and night for the high mission they have undertaken. He is the high priest of the Jain community and is recognized as the highest living authority on Jain Religion and literature by Oriental Scholars.

अर्थ—जैसी खूबी से मुनि आत्माराम जीने अपने आप को जैनधर्म के हित में प्रयुक्त किया है ऐसे किसी ने नहीं किया, संयमग्रहण करने के दिन से जीवन पर्यंत जिन प्रशस्त महाशयों ने स्वीकृत श्रेष्ठ धर्म में अहोरात्र सहोद्योग रहने का नियम किया है उनमें से आप एक हैं, जैनसमाज के आप परमाचार्य हैं, और प्राच्य विद्वानों ने इनको जैनधर्म तथा जैन साहित्य में सर्वोत्तम ज़िन्दा प्रमाण माना है ॥

तथा जिनकी बाबत आपके ही वैदिकधर्मानुयायी परिव्राजक योगजीवानन्द स्वामी कैसी उच्चसम्मति प्रकाश करते थे, अक्षर २ चिठी की नकल देते हैं—

" ॥ स्वस्ति श्रीमज्जैनेन्द्रचरणकमलमधुपायितमनस्क श्रील श्रीयुक्तपरिव्राजकाचार्य परमधर्मप्रतिपालक श्रीआत्मारामजी तपगच्छीय श्रीमन्मुनिराज । बुद्धिविजयशिष्यश्रीमुखजीको परिव्राजकयोगजीवानन्दस्वामीपरमहंसका प्रदक्षिणत्रयपूर्वक क्षमाप्रार्थनमेतत् ॥ भगवन् व्याकरणादि नानाशास्त्रों के अध्ययनाध्यापन द्वारा वेदमत गले में बान्ध मै अनेक राजा प्रजा के सभाविजय करे देखा व्यर्थ मगज मारना है । इतना ही फल साधनांश होता है कि राजेलोग जानते समझते हैं फलाना पुरुष बड़ा भारी विद्वान् है परन्तु आत्मा को क्या लाभ हो सकता देखा तो कुछ भी नहीं । आज प्रसंगवस रेलगाड़ी से उतरके बठिंडा राधाकृष्ण मन्दिर में बहुत दूर से आन के डेरा किया था सो एक जैनशिष्य के हाथ दो पुस्तक देखे तो जो लोग ( दो चार अच्छे विद्वान् जो मुझ से मिलने आये ) थे कहने लगे कि ये नास्तिक ( जैन ) ग्रन्थ है इसे नही देखना चाहिये अन्त उन का मूर्खपणा उन के गले उतार के निरपेक्ष बुद्धि के द्वारा विचारपूर्वक जो देखा तो वो लेख इतना सत्य वो निष्पक्षपाती लेख मुझे देख पड़ा कि मानो एक जगत् छोड़ के दूसरे जगत् में आन खड़े हो गये ओ आबाल्यकाल आज ७० वर्ष से जो कुछ अध्ययन करा वो वैदिकधर्म बांधे फिरा सो व्यर्थसा मालूम होने लगा जैनतत्त्वादर्श वो अज्ञानतिमिरभास्कर इन दोनों ग्रन्थों को तमामरात्रिदिव मनन करता बैठा वो ग्रन्थकार की प्रशंसा बखानता बठिंडे में बैठा हूं। सेतुबन्धरामेश्वर यात्रा से अब मैं नैपालदेश चला हूं परन्तु अब मेरी ऐसी असामान्य महती इच्छा मुझे सताय रही है कि किसी प्रकार से भी एकबार आपका मेरा समागम वो परस्पर दर्शन हो जावे तो मैं कृतकर्म्मा होजाऊं ॥

महात्मन् हम संन्यासी है। आजतक जो पांडित्यकीर्त्तिलाभ-द्वारा जो सभाविजयी होके राजा महाराजों में ख्यातिप्रतिपत्ति कमायके एक नाम पंडिताई का हासल करा है। आज हम यदि एकदम आपसे मिले तो वो कमायी कीर्त्ति जाती रहेगी ये हम खूब समझते वो जानते हैं परन्तु हठ धर्म्म भी शुभ परिणाम शुभ आत्माका धर्म्म नहीं। आज मैं आपके पास इतना मात्र स्वीकार कर सकता हूं कि प्राचीन धर्म्म परम धर्म अगर कोई सत्य धर्म रहा हो तो जैनधर्म्म था जिसकी प्रभा नाश करने को वैदिक धर्म्म वो षट्शास्त्र वो ग्रंथकार खड़े भये थे परन्तु पक्षपातशून्य होके कोई यदि वैदिक शास्त्रों पर दृष्टि देवे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वैदिक बातें कही वो लीई गई सो सब जैनशास्त्रों से नमूना इकट्ठी करी है। इस में संदेह नहीं कितनीक बातें ऐसी है कि जो प्रत्यक्ष विचार करे विना सिद्ध नहीं होती हैं। सवत् १९४८ मिती आषाढ सुदि १० ॥

पुनर्निवेदन यह है कि यदि आपकी कृपापत्री पाई तो एकदफा मिलने का उद्यम करूंगा। इति योगानंदस्वामी। किंवा योगजीवानंदसरस्वतिस्वामि ॥

मालाबंधश्लोकोयथा ॥

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदा-रक्तिरक्तो। दिग्जेता जेतृजेता मतिनुतिगतिभिः पूजितो जिष्णुजिह्वैः॥ जीयाद्दायादयात्री खलबल-दलनो लोलल्लीलस्वलज्जः। केदारौदास्यदारी वि-मलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः ॥१॥

इस श्लोक के सब अर्थ जैनप्रशंसा वो श्रीआत्मारामजी की विभूति की प्रशंसा निकले है, प्रत्येक पुष्पों के बीचका जो अक्षर है वो तीनवार एक अक्षर को कहना चाहिये ऐसा काव्य दश बीस श्लोक बनाये के जरूर चाहता था कि जैनतत्त्वादर्श वो अज्ञानतिमिरभास्कर में जैनदेव प्रशंसा होनी चाहेती थी । एकवार आप को मिलने बाद अपना सिद्धांतका निश्चय फिर करना बने तो देखी जायगी" ॥

स्वामीजी यदि जैन ग्रंथों को पढ़ते तो जैनाचार्योंकी बुद्धिका वैभव मालूम होजाता, परं स्वामीजी ने तो संस्कृत अर्ध श्लोक का अर्थ भी ठीक न किया तो ऐसे गूढार्थों को कहां पहुंच सकते थे ? सत्य तो यह है कि यथा पीतरोगी को सर्ववस्तु पीत ही भान होती है, तथा स्वामीजी को अविद्वत्ता रोग होने से सब ही अविद्वान् भान होते थे ॥

पृष्ठ ४५७ पर स्वामीजी ने प्राकृत की गाथाओं के जो अर्थ लिखे हैं वह सर्वथा मनः कल्पित और असत्य हैं, अक्षरार्थ वैसे है नहीं, यह स्वामीजी की लीला है कि अर्थ समझना आप नहीं, और कल्पित अर्थ करके उस पर समीक्षा करने लग पड़ना॥ यह बात निसंदेह है कि स्वामीजी प्राकृत जानते ही नहीं थे स्वामीजी लिखते है कि "जैनी सुदेव सुगुरु सुधर्म को ही मानना कहते हैं, अन्य को नहीं, यह तो बेर बेचने वाली कूंजड़ी के समान है, जैसे वह अपने खट्टे बेरों को मीठा और दूसरी के मीठों को खट्टा और निकम्मे बतलाती है", स्वामीजी का यह लेख भी द्वेषगर्भित है- जैनधर्म का मंतव्य है कि चाहे कोई हो, कुछ नाम है, जिस में राग द्वेष काम क्रोध स्त्रीसंबंधादि १८

दूषण न हों, उसको सुदेव मानना। कंचन और कामिनी के त्यागी, सत्यधर्म के उपदेशक, भिक्षावृत्ति से भोजन करनेवाले जीवहिंसा, असत्य, आस्तेय, अब्रह्मचर्य, और धन धान्यादि के त्यागी तपसंयमादि गुणों वाले गुरुको सुगुरु मानना, और पूर्वोक्त वीतराग देव के कथन कियेधर्म को सुधर्म मानना, अब बताइये इस में किसी अन्यमत की क्या निंदा और स्वधर्म की क्या स्तुति की है ? कुदेव कुगुरु और कुधर्म से सबको घृणा है, हां स्वामीजी को वह मन भाते हों तो उनकी इच्छा, रागी, द्वेषी क्रोधी, लोभी, पापी. स्त्रीगामी को देव मानना और धन रखने वालों कुव्यसन सेवने वालों और ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट मिथ्या वक्ताओं डंडों मुशटंडों को गुरु मानना और हिंसोपदेशकधर्म को धर्म मानना जैनीयों को सम्मत नहीं, नहीं मालूम स्वामीजी को जैनीयों की युक्तिसिद्ध मंतव्य पर क्यों दुख हुआ, यदि वैदिक देव गुरु धर्म पूर्वोक्त गुण सहित विशेषणों वाले हों तो जैनियों को मानने में कोई भी हानि नहीं है।

पृष्ठ ४५८ पर जैनीयों को कठोर, द्वेषी, भूले हुए और दौर्भागी लिखा है, स्वामीजी लिखते समय आगा पीछा नहीं देखते थे, जो मन आया घसीट मारा, जैनीयों को तो आप कठोर और द्वेषी बताते हैं परन्तु विचारते नहीं कि हम ही कैसे कठोर और द्वेषाग्नि को प्रज्वलित करने वाली बानी लिख रहे हैं जैनियों ने किसी भी मत की निंदा नहीं की, निंदा तो आप कर गये है और लगाते हैं ओरों के सिर, दौर्भाग्य स्वामीजी का ही था कि वैदिक मतानुयायी भी उनसे उपेक्षा ही करते थे, और वेद विरुद्ध उपदेश होने से उपदेश सुनना नहीं चाहते थे॥ जैनी नहीं

का नाम कुपारपाल था इत्यादि ” स्वामीजी का यह ताने का खेल अल्पज्ञता का सूचक है—क्यूंकि स्वामीजी असली अर्थ को समझे ही नहीं, जिस समय उस पुरुषने फूल खरीदे थे, उस समय उसके पास पांच कौड़ी मात्र ही की जायदाद थी जिससे फूल लेकर शुद्धभावना से चढ़ाये, विचारा जावे तो वास्तव में उसने अपना सर्वस्व जो पांच कौडी मात्र ही था शुद्धभावों से धर्म-निमित अर्पन करदिया॥ यदि अधुनापि कोई मनुष्य शुद्ध भावना पूर्वक परमभक्ति से अपना सर्वस्व धर्मनिमित्त अर्पन करदे तो भवांतरों में उसका राजा होना कोई असंभव नही, अपितु शुद्ध-भावना युक्त भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति भी होसकती है, टुक विचारना चाहिये कि यदि आर्यसमाजको कोई लखपति पांच हजार देदे और एक कोई कंगाल जिसके पास केवल पांच पैसे ही हों, वह पांच पैसे ही अर्पन करदे तो विशेष प्रशंसा किस की? सब कोई कंगाल को ही शाबाश २ कहेंगे, क्यूंकि उसने सर्वस्व दिया है, इसी तरह पांच कौड़ी के फूल चढ़ानेवाले का संबंध है स्वामीजी जैसे विचार शून्य पुरुषो को यह भाव प्रकाश नहीं होता—

**आर्या**—हां, बेशक, यदि धर्म के कार्यों में धन व्यय किया जावे, तो उसका फल राजा होना और मुक्तिपाना कठिन नहीं, परंतु जड़मूर्ति से ऐसा फल हो नही सकता?

**जैनी**—क्या जड़मूर्ति कुछ नही कर सकती—

**आर्या**—हां, बेशक—वह तो स्वतः मक्षिका को भी नहीं उड़ा सकती—तो औरों का उसकी भक्ति से क्या लाभ होसकता है?

**जैनी**—वाह जी वाह, खूब कहा. आपके वेद भी तो जड़

हैं जो मूर्तिवत् मक्षिका को उड़ा नहीं सकते, परन्तु आप उन से परमपद मुक्ति का पाना मानते हैं ॥

आर्य—वेदों से तो ज्ञान प्राप्ति होती है—

जैनी—क्या वेद स्वतः ज्ञानप्राप्ति कराने में समर्थ हैं वा मनुष्य की बुद्धि ज्ञान कराती है? यदि कहोगे, वेद स्वतः सामर्थ्यवान् हैं, तो आपका कथना असत्य है क्यूंकि यदि ऐसा हो तो मूर्ख मनुष्य भी अपने पास वेदों के रखने से विद्वान् होने चाहियें, परंतु ऐसा देखने में आता नहीं, क्योंकि वेदों को पास रखने वाले हज़ारों हैं, परन्तु उनके समझने वाले सैंकड़ों में भी एक दो ही हैं—यदि कहोगे, अपनी बुद्धि से ज्ञानप्राप्ति होती है, तो इसी तरह मूर्ति से भी समझ लेना चाहिये—यथा हाथी की मूर्ति देखने से असली हाथी का बोध होता है, तथैव आप्त पुरुषों के चारित्र वांचने और उनकी मूर्ति देखने से उनका बोध होता है— अतः मूर्ति का मानना अवश्य है।

पृष्ठ ४६८ पर लिखा है कि "जो मूर्तिपूजा करके भवसागर से तर जाते हो तो ज्ञान सम्यग्दर्शन और चारित्र क्यों करते हो?" स्वामीजी की भूलें हम कहां तक प्रकट करें, स्वामी जी भूल भुलैयां के चक्कर में पड़े हुए अंडबंड लिख गये हैं, हम पूछते हैं, जैनी कब कहते हैं, कि केवल मूर्तिपूजा से ही भवसागर तरा जाता है, मूर्तिपूजा भी सम्यक् ज्ञानदर्शन पूर्वक ही यथार्थ फल देने वाली होती है, विचारनीय केवल इतना ही है कि मुक्ति के साधन अनेक है—

इसी पृष्ठ पर रत्नसार की साक्षी देकर स्वामीजी ने अनेक

कुतर्कें की हैं, परं उनके उत्तर प्रायः पहले लिखे गये हैं, इस लिये पिष्ठपेशन आवश्यक नहीं–

पृष्ठ ४६९ पर मूर्तिपूजा के खंडन में अनेक कुतर्कें की हैं, नहीं मालूम स्वामीजी की बुद्धि उस समय कहां चरने गई हुई थी, क्यूंकि स्वामी जी आप ही तो मूर्ति को सिद्ध करनेवाले लेख लिखते है और आपही उसका खंडन करते हैं–

**आर्य्या**–आप तो अद्भुत बात सुनाते हैं स्वामीजी मूर्ति का मानना लिखें यह कदापि नहीं हो सकता, वह तो मूर्ति के कट्टर शत्रु थे ॥

**जैनी**–अजी ठीक है हाथी के दान्त दिखाने के और खाने के और ॥

**आर्य्या**–अच्छा, बताइये कहा क्या लिखा है ?

**जैनी**–देखो ! पृष्ठ ३७ पर अग्नि होत्र करने की विधि और आवश्यक वस्तुओं की मूर्तियें बनाकर दिखलाई हैं।

टुक विचार का अवसर है कि यदि स्वामीजी मूर्ति नहीं मानते थे तो अपने सेवकों को विना चित्र दिखाये के क्यों न समझा सके ?

**आर्य्या**–इन चित्रों को हम तदाकार वेदी आदि तो नही मानते, हम तो केवल इन चित्रों को असली वेदी आदि के ज्ञान होने में निमित्त मानते हैं ।

**जैनी**–हम भी तो यही कहते हैं कि मूर्ति ईश्वर नहीं, परन्तु ईश्वर के स्वरूप का स्मरण कराने में कारण है।
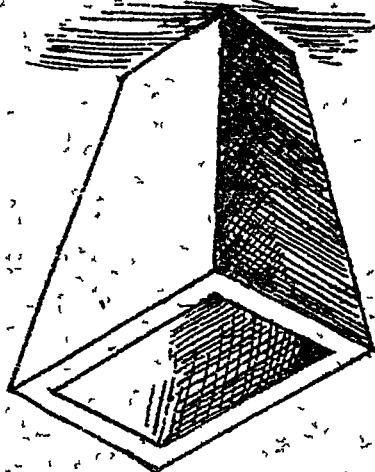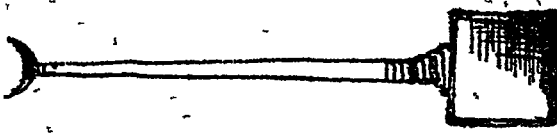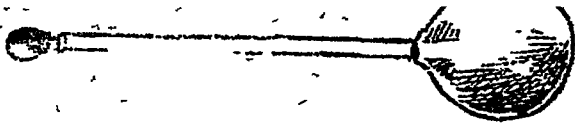
**आर्य्या**—वेदि आदि वस्तुयें तो रूपी हैं, परन्तु ईश्वर तो एक अरूपी पदार्थ है, तो फिर उस की मूर्ति कैसे बन सकती है?

**जैनी**—यदि आप ईश्वर को अरूपी ही मानते हैं, तो "ओम्" पद के साथ ईश्वर का सम्बन्ध नहीं रहेगा क्योंकि "ओम्" पद रूपी है और ईश्वर अरूपी है।

**आर्य्या**—आप इस को समझे नहीं, जब हम "ओम्" पद का उच्चारण और ध्यान करते हैं तब हमारा ध्यान जड़रूप "ओम्" शब्द के साथ नहीं रहता, बल्कि उस पद के वाच्य में अर्थात् ईश्वर में रहता है।

**जैनी**—जब आप का ध्यान वाचक अर्थात् "ओम्" को छोड़कर वाच्य अर्थात् ईश्वर में रहता है तो आप को वाचक अर्थात् "ओम्" पद की क्या आवश्यक्ता रही?

**आर्य्या**—बिना "ओम्" पद के हम को ईश्वर का ज्ञान नहीं होता।

**जैनी**—यथा शब्द की स्थापना के बिना ईश्वर का ध्यान नहीं होसकता, तथैव बिना मूर्ति के ईश्वर का बोध भी नहीं होसकता, इसलिये जिन जीवों को केवलज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान नहीं है, उनके लिये मूर्ति का अवलम्बन ईश्वरदर्शनार्थ जरूरी है, क्योंकि बिना मूर्ति देखे ईश्वर के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता, यथा दो मनुष्य हों, एक ने हाथी देखा हुआ है, दूसरे ने सुना हुआ ही है, इस को बिना हाथी की मूर्ति देखे

हाथी का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, इसी तरह हम तुम ने ईश्वर नाम तो सुना है पर देखा नहीं; इसलिये ईश्वर की मूर्ति के विना ईश्वर का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, यदि कहोगे, मूर्ति बनानेवाले ने ईश्वर कहां देखा है, सो यह आप का कहना विचारपूर्वक नहीं,क्योंकि नकशे बनाने वाले ने सर्व देशों में जा कर शहर, ग्राम, समुद्र, नदि, नाले, टापू. पर्वतादि देखें नहीं हैं, तथापि उस के बनाए हुए नकशों को देख कर सर्वदेशों का बोध होता है, इसीतरह मूर्ति के विषय में भी समझ लेना। यदि कहोगे—कि जब शास्त्रों से ही ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है तो फिर मूर्ति की क्या आवश्यक्ता है तो यह कहना भी व्यर्थ है,क्योंकि यदि किसी मनुष्य को किसी ने शहर मुम्बई के वर्णन सुनाते कहा कि उस का अमुक दरवाज़ा पूर्व को है, और अमुक पश्चिम को, और अमुक मकान स्टेशन से अमुक दिशा में है, इत्यादि २ और दूसरे मनुष्य को शहर मुम्बई का चित्र दिखा कर सर्व हाल कह दिया। अब आप कहिये, मुंबई के विशेष वृत्तान्त का बोध किस को होगा,कहना ही पड़ेगा कि वृत्तान्त और चित्र देखनेवाले को केवल वृत्तान्त सुननेवाले से शीघ्र विशेष और सुगमता से बोध होगा, इसी प्रकार मूर्ति के सम्बन्ध में भी विचार लेना।

**आर्य्या**—अस्तु, मूर्ति का दर्शन करना तो ईश्वर के स्वरूप जानने में कारण माना गया,किन्तु उस की विनय और उसको नमस्कार करने की क्या आवश्यक्ता है ?

**जैनी**—वाहजी वाह ! खूब !! कभी ऐसा भी होसकता है कि दर्शन करना तो माना जावे, परन्तु विनय और नमस्कार न की जावे, प्रत्यक्ष देखते हैं, कि स्वामीजी की मूर्तियें प्रत्येक आर्यसमाजी के घरों बैठकों दुकानों में सुशोभित होरही हैं, क्या यह स्थापना नहीं है ? कदाचित् कोई द्वेषी स्वामीजी की मूर्ति का अविनय और निरादर करे तो क्या उस के सेवक को बुरा मालूम न होगा ? अवश्यमेव होगा, तो फिर क्यों ? बस कहना ही पड़ेगा कि स्वामीजी की निरादरी होती है, प्रत्यक्ष यद्यपि मूर्ति की अविनय होती है, परन्तु मूर्ति में स्वामीजी की स्थापना होने से सेवक को उस से स्वामीजी का बोध होता है, चूंकि स्वामीजी प्रति उस की भक्ति की बुद्धि है इसलिये उस को बुरा मालूम होता है, इसी प्रकार ईश्वर की मूर्ति में भी समझ लेना।

**आर्य्य**—भला विनय करना और नमस्कार करना तो मान लिया, किन्तु पुष्पादि चढ़ाने से क्या लाभ है ?

**जैनी**—पुष्प चढ़ाने से बहुत लाभ है, सुनिये जब हम पुष्प चढ़ाते हैं तो भावना करते हैं कि हे भगवान् यह कामदेव के बाण हमको अनादि काल से दुःख दे रहे हैं, हम चाहते हैं कि आपकी भक्ति से भविष्यत में यह बाण हमको पीड़ा न करें, विचारिये, हमारी यह भावना बिना पुष्प के कैसे हो सकती है? इसीतरह केसर चंदनादि प्रत्येक वस्तु के ढौकन में पृथक् २ भावना की जाती है, जो भवसागर से पार उतारने का कारण होती है पुस्तक बढ़ जाने के भय से इसका सविस्तर स्वरूप यहां नहीं लिखा जाता—

प्रिय बांधव ! विचारो कि यथा स्त्री की मूर्ति को देखकर कामी पुरुषों को काम जागता है, तथैव परमेश्वर की मूर्ति को देखकर भक्तजनों को क्यों वैराग उत्पन्न नहो ? अपितु अवश्य हो

**आर्या**—आपका यह कहना ठीक नहीं, क्यूंकि इसका खंडन हमारे स्वामीजी ने ऐसे किया है, कि यदि पाषाण की मूर्ति को देखने से शुभ प्रणाम मानते हो, तो उस के जड़ आदि गुण भी तुम्हारे में प्रविष्ट हो जायेंगे, जब बुद्धि पथरा जावेगी तो नाश हो जाओगे—

**जैनी**—अहा ! हा !! हा !!! स्वामीजी की बुद्धि का क्या ही कहना है, निर्बुद्धि से निर्बुद्धि भी कह सकता है कि स्त्री की मूर्ति को देखकर काम तो जाग सकता है परं वह स्त्री नहीं बन सकता—इसी प्रकार वीतराग जिनदेव की शांत मूर्ति को देख कर शांति हो सकती है,न कि जड़ता गुण प्राप्त होसकता है। परन्तु क्या किया जावे,स्वामीजी की बुद्धि पक्षपातमें अस्त व्यस्त होरही थी जो जी में आया,घसीटमारा,विशेष शोक आधुनिक समय के मनुष्यों पर है जो सरल सुगम विद्याप्रचार होने पर भी पक्षपात को नहीं त्यागते, बुद्धि पाने का यही सार है कि तत्वपदार्थ को निरपक्ष हो कर विचारना—उक्तंच:—

**बुद्धेः फलं तत्वविचारणं**

तदनन्तर जैनियों का नमस्कार मंत्र उल्लेख कर स्वामीजी लिखते हैं कि " इस मंत्रका बड़ा माहात्म्य लिखा है और सब जैनियों का यह गुरुमंत्र है, इसका ऐसा माहात्म्य धरा है, कि तंत्रपुराण भाटों की भी कथा को पराजय कर दिया है" "इस

में जैन के अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं को नमस्कार किया है" "यद्यपि मंत्रमें जैन शब्द नहीं है, परंतु जैनियों की बहुत पुस्तकों में लिखा है कि जैनमत के अतिरिक्त और किसी को नमस्कार न करना" स्वामीजीका यह लेख पक्षपात का नमूना है, बुद्धिमानों के जानने वास्ते नमस्कार मंत्र अर्थ सहित यहां लिख दिखाते हैं-

**णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहुणं, एसो पंच नमुकारो सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणंच सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं-**

अर्थ—अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो, यह पांचों नमस्कार सब पापोंके नाश करने वाले हैं, सर्वप्रकार के मंगलों में प्रथम मंगलीक हैं, विशेषार्थ यह कि **अरि**—काम क्रोधादि आत्मिक शत्रुओं को **हंत** नाश करने वाले को अरिहंत कहते हैं, ऐसी केवलज्ञान त्रिकालदर्शी दशा को प्राप्त होने के पश्चात जब वह जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त होते है, तब उनको सिद्ध कहते हैं, और जो संसार के त्यागी, ज़र जोरु ज़मीन के त्यागी केवल धर्मोपदेशक होवें, उनको आचार्य, उपाध्याय, और साधु कहते हैं।

इस नवकार महा मंत्र की जितनी प्रशंसा और जितना माहात्म्य जैनियों ने अपने पुस्तकों में वर्णन किया है, वह सब सत्य २ हैं,

और यदि इसका पूर्ण माहात्म्य वर्णन किया जावे, तो एक महान् ग्रन्थ सार होसकता है, स्वामीजी इसका माहात्म्य क्यों नहीं सहन कर सके, इसका कारण हमको यही प्रतीत होता है कि स्वामीजी के भीतर पक्षपात कूट २ कर भरा हुआ था, जिस से स्वामीजी को प्रायः दूसरे की प्रशंसा दुःखदायी हुआ करती थी, सो इसमें किसी का क्या दोष है, उनका स्वभाव ही ऐसा था, स्वामीजी यहां तक तो लिख गये कि जैनियों ने इस मन्त्र के माहात्म्य से तंत्र पुराण और भाटों की कथा को भी मात कर दिया है, परन्तु यह क्यों न लिख दिया कि हमारे गायत्री मन्त्र की प्रशंसा का भी कुछ पारावार नहीं, वैदिक लोको में गायत्री मन्त्र का जाप सर्वोत्कृष्ट माना गया है, मनु जी लिख गये हैं, कि मनुष्य का गायत्री जाप से मुक्ति पाना इसमें किंचदापि संदेह नहीं, चाहे वह अपने धर्म की और कोई बात करे वा न करे, वेद को भी वही जानता है, जो गायत्री का पहला शब्द जानता है, जो मनुष्य तीन वर्ष पर्यन्त सदा गायत्री पढ़ेगा, वह आकाश और वायु की न्याई निर्मल होकर परमब्रह्म में लीन हो जावेगा, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होजावेगा, गायत्री मन्त्र से कोई बड़ा नहीं, उपनिषदों में भी कथन है कि जो सूर्य्य के सन्मुख बैठ कर गायत्री का जाप करेगा, वह सर्वथा निर्भय होजावेगा, अब प्रिय पाठक वर्ग विचारें कि वेदिकाचार्य गायत्री मन्त्र की कितनी प्रशंसा लिख गये है, सत्य है, पक्षपात ने न्याय को स्वामी जी के पास तक आने नहीं दिया, यह भी मत कहना कि स्वामीजी को गायत्री मन्त्रादि अभीष्ट न थे, क्योंकि यदि अभिमत न होते तो स्वामीजी उनकी प्रशंसा न करते, यह बड़ा

अंधेर है कि वेदमंत्र तो माहात्म्य वाले माने जावें और जैनियों के मंत्रो से असन्तोष उत्पन्न हो—

आर्या—क्या आपको गायत्री मंत्र के अर्थ का पता है ?

जैनी—हां, सुन लीजिये-गायंतं त्रायते इति गायत्री अर्थात् पढ़नेवाले की रक्षा करे सो गायत्री—

आर्या—अजी, इसका पाठ क्या है—

जैनी—ओम् भूर्भवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो-देवस्य धीमहिधियोयोनः प्रचोदयात ॥

यजुः अ० ३६। मं० ३

लो, जरा अर्थ भी सुनो-भू, आकाश, स्वर्ग हम सूर्य्य की वड़ी ज्योति का ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धी को प्रेरणा करे, अर्थात् तेजरूप सूर्य्य का हम ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धि को रास्ते पर लावे, बस, यही आपका गुरुमन्त्र है जिस पर आप को वड़ा अभिमान है, टुक विचारो इस में कौनसे परमात्मा का ध्यान है,मध्यस्थ होकर विचारा जावे, तो प्रकट होजावेगा कि तंत्र पुराण और भाटों की कथाओं को मात करने वाला आप का गायत्री मंत्र ही है नतु हमारा स्तुति संपन्न नवकार महामन्त्र है॥

पृष्ठ ४७० पर मूर्ति के दर्शन पर कुतर्के की हैं, सो उनका खण्डन प्रायः प्रथम कर चुके हैं, फिर स्वामीजी लिखते हैं कि "अब इन जैनियों के साधुओं की लीला देखिये-जैनमत का एक साधु कोशा वेशा से भोग करके पश्चात त्यागी होकर स्वर्गलोक को गया-" यहां पर स्वामीजी ने अपनी अज्ञानता प्रकट की है, सुनिये, पटना नगर के शकडाल मन्त्री के पुत्र

स्थूलभद्र जी जब गृहस्थाश्रम में थे, तब एक वेश्या के घर में १२ वर्ष पर्यन्त रहे, पश्चात् वह उसके कुसंग को त्याग और इंद्रियजन्य भोग विलास से पराङ्मुख होकर साधुधर्म को अंगीकार करते भये, और धर्मपालन कर आयु कर्म के क्षय होने पर देह त्याग कर देवगति को प्राप्त होते भये, ऐसा कथन जैनशास्त्रों में है, अब कहिये, इस में क्या अनुचित है ? यदि कोई आर्या समाजी वेश्यागामी हो और फिर विषयिक सुखों को त्याग कर सन्यासी बने और स्वामीजी के लेखानुसार वेदों की आज्ञा पालन करे, और निराकार ईश्वर का ध्यान करे, तो वह मुक्ति पा सकता है वा नहीं ? यदि पा सकता है, तो जैनों के श्री स्थूलभद्र जी साधु सत्यधर्म का पालन कर स्वर्ग में चले गये, इसमें अचंभा और अत्युक्ति क्या ?

फिर स्वामीजी ने इसी प्रकार अर्णक मुनि की बाबत व्यर्थ कुतर्कें की है, परन्तु शोक है कि स्वामीजी लिखते समय आगा पीछा नहीं देखते थे, और पूरा हाल भी नहीं लिखते थे, सारांश यह था कि यदि सब वृत्तान्त लिखते तो खंडन कदापि नहीं होसकता था, अजी, इसी का नाम तो चालाकी है, यह न होती तो स्वामीजी की महिमा ही क्या होती, कदाचित् स्वामी जी निरपक्ष होकर टुक विचारते तो उनको विदित होजाता कि निर्विकार जैनधर्म में लीला और विकार का होना कैसे संभव होसकता है ? अपितु नहीं होसकता॥ प्रतीत होता है, स्वामीजी को अपना जीवनचरित्र और उपदेश जो औरों के सुधारार्थ दिया है, स्मरण न रहा होगा, कदाचित् अपने जीवनचरित्र और कथन पर विचार करते तो उनको विदित हो जाता, कि

अपनी लीला कैसी विचित्र थी परन्तु ऐसा क्यों करते, उनको तो अर्थों के अनर्थ कर पक्षपात के सेवक बनकर खंडन करना था, सो उनका खंडन विद्वानों को उप-हास्यजनक है, यद्यपि हमको विचित्र चरित्र प्रकाश करने की आवश्यक्ता नहीं, परन्तु प्रसंगवशात् केवल इतना ही निवेदन करते हैं कि मुरादाबाद निवासी पण्डित जगन्नाथकृत **दयानन्द की चंद रंगते और उस का कच्चा चिठ्ठा** और पण्डित रुल्याराम साहिब शर्मा सम्पादक "सनातनधर्मप्रचारक" अमृतसर सन् १९०५ के मई महीने का रसाला अवलोकन करलें, और उसका सारांश यह है:- कि "दयानन्द किस जातिका और किस शहर का और किस शख्स का बेटा था यह बात अबतक किसी को सम्यक प्रकार से मालूम नहीं, उसने अपनी जिंदगी के हालात सन् १९७९ और १९८० की "थिआसोफिस्ट" अंग्रेज़ी अखबार में जो मुद्रित कराये थे, उसका अनुवाद दलपतराय जगरांवां वालेने उर्दू में किया है, वहां दयानन्द ने अपने बाप का नाम और अपने खानदान के मसकन का पता बताने के संबंध में जो कुछ उत्तर लिखा है, सरासर बुद्धिप्रतिकूल है, खैर हम को उससे कुछ गर्ज नहीं, उसका जो हाल मालूम है, वह लिखते हैं, उक्त जीवन चरित्र के पृष्ठ २१ में दयानन्द का कहना है कि मुझको एक ब्रह्मचारी मिला, जिसके उपदेश से मैं उसके मत में शरीक हो गया, और उसने मेरा नाम शुद्धचेतन रक्खा, पृष्ठ २७ पर लिखा है, कि ब्रह्मानन्द वगैरह सत्पुरुषों ने मुझको पूरा २ निश्चय करा दिया, कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर मेरे शरीर से भिन्न कोई वस्तु नही है, मुझे पूरा निश्चय हो गया, कि ब्रह्म मैं ही हुं, पृष्ठ

३२, ३३, ३४ से जाहिर है कि परमानन्द सरस्वति ने उसको सन्यासियों के चौथे दरजे में शरीक कर लिया, और उस को एक दण्ड देकर इसका नाम दयानन्द सरस्वति रखादिया ॥

विचारनीय यह है कि प्रथम यह पुरुष एक ब्रह्मचारी का चेला बना, जिस ने इसका नाम शुद्धचेतन रक्खा फिर ब्रह्मानन्द वगैरह के सहवास मे उसको पूरा पूरा यकीन होगया कि ब्रह्म मैं ही हू, पश्चात् परमानन्द सरस्वति अद्वैतवादी अर्थात् शंकराचार्य मत के संन्यासी ने उसको अपना चेला बनाया और उसने उसका नाम दयानन्द सरस्वति रक्खा, जीवन पर्यंत उसी धर्म में रहा है, और अपने आपको ब्रह्म समझता रहा, पृष्ठ ५६.५७ पर लिखा है कि मुझ को एक लाश दरया के ऊपर बहती हुई मिली, मैंने उसको नदि से निकाल और तेज चाकू से काटना शुरु किया क्याखूब, ब्राह्मण और सन्यासी होकर मुरदा लाश को चीरना आप ही का काम था ! पृष्ठ ५८ पर चांडालगढ़ के संबंध में लिखा है कि उस जगह मुझे एक बड़ा कुव्यसन लगगया, अर्थात भंग से मैं कभी २ बिलकुल मदहोश होजाया करता था, ऐसे भंगड़ के लेख पर भरोसा करना अकलमंदों का काम हरगिज़ नहीं, कुछ समय पीछे उसने एक किताब नाम सत्यार्थप्रकाश बनाई और सन् १८७१ में बनारस में छपवाई, उसके पृष्ठ ४५ में प्रातः और सायं को मांस वगैरह से होम करना लिखा है, पृष्ठ ६७ में लिखा है कि म्लेच्छ नाम बुरा नहीं, जिन लोगों से संस्कृत शब्द उच्चारण ठीक २ नहीं हो सकता, वह म्लेच्छ हैं, समाजी अनेक ऐसे हैं जिन से ठीक २ संस्कृत शब्दोच्चारण नहीं हो सकता, दयानन्द के मतानुसार वह म्लेच्छ ठहरे, पृष्ठ १४८ मे

गाय को गधी के बराबर समझकर लिखाहै कि गाय से जब दूध वगैरह मतलब हो तबतक उसको चारह वगैरह देवे, वरना नहीं, पृष्ठ १४९ में लिखा है कि मांस के पिंड देने में कुछ पाप नहीं, पृष्ठ १७१ मे लिखा है कि यज्ञ के वास्ते जो जानदारों का बध करना है, वह विधि पूर्वक कतल करना है, अर्थात् आज्ञा सिद्ध है, पृष्ठ ३०२ में लिखा है, कि अगर कोई भी मांस न खावे, तो जानवर चरंद परंद जितने हैं, उमसे हजारचंद हो जावें, फिर मनुष्यों को मारने लगे, और खेतों में अन्न न होने पावे, फिर मनुष्य मरजावें, पृष्ठ ३०३ में लिखा है कि जहां जहां गोमेध वगैरह लिखे हैं, वहां २ पशुओं में नरों का मारना लिखा है, और एक बैलसे हजार गायें हामला होती हैं, इमसे नुकसान भी नहीं, और जो वांझ गाय होती हैं, उमको भी गामेध में मारना लिखा है, क्योंकि वांझ गाय से दूध और बछड़ों वगैरह की उत्पत्ति नहीं होती, पृष्ठ ३९९ में लिखा है, कि पशुओं के मारने में थोड़ा सा दुख होता है, और यज्ञ में जानदारों और गैर जानदारों का निहायत लाभ है, पूर्वोक्त लेख से बुद्धिमान समझ सकते हैं कि दयानन्द धर्मप्रचारक था, या अधर्मप्रचारक ? कोई हिन्दुका बेटा ऐसी अधर्म की बातें कदापि नही लिख सकता, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के पृष्ठ २१४ में लिखा है कि पुरुष के लिये वेद की यह आज्ञा है कि जिस स्त्री से विवाह होवे, वा नियोग करे, उस मे दस औलाद तक पैदा करे, इस से दो पंक्ति पीछे लिखा है कि जिस पुरुष के साथ विवाह हो, उसके मरने या बीमार होने पर दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ अगर संतान न हो तो नियोग करे, अगर दूसरा भी मरजावे, या बीमार होजावे, तो तीसरे के

साथइसी तरह दस (१०) तक नियोग करने की आज्ञा है—यहां विचार का अवसर है कि पहले तो वेद की यह आज्ञा जाहिर की कि जिस स्त्री से नियोग करे, उस में दस संतान तक पैदा करे, फिर कहा, कि संतान न होने की हालत में नियोग करे, जब कि नियोग की आज्ञा संतान न होने की हालत में है, तो नियोग से दस संतान तक पैदा करना सरासर बुद्धिप्रातिकूल है, क्योंकि एक बेटा या बेटी पैदा होने से पुरुष संतान रहित नहीं होसकता, फिर दस संतान तक पैदा करना कैसे आज्ञासिद्ध हो सकता है, दूसरी बार के छपे सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ११८ में लिखा है कि जब पति संतान पैदा करने की ताकत न रखे, तो अपनी स्त्री को आज्ञा दे कि तू मेरे सिवाय दूसरे पति की वांछा कर, ऐसे ही स्त्री भी जब बीमारी वगैरह के कारण से संतान पैदा करने की ताकत न रखे, तो अपने पति को आज्ञा दे कि आप किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके संतान पैदा कीजिये, और फिर पृष्ठ ११९ में लिखा है कि जिस स्त्री का पति धर्म विद्या और धन वगैरह की इच्छा के लिये परदेश गया हो, वह नियत समय के व्यतीत जाने पर किसी से नियोग करके संतान पैदा करे, जब असली पति आजावे, तब नियोगवाला पति छूट जावे, और पति विशेष पीड़ देने वाला हो तो स्त्री को उचित है कि उसको छोडकर दूसरे से संतान पैदा कर लेवे, पृष्ठ १२० में लिखा है कि गर्भवती स्त्री से एक वर्ष काम भोग करने के वक्त में पुरुष वा स्त्री से न रहा जाय, तो किसी से नियोग करके उनके लिये बेटा पैदा करदे, जिस दयानन्द के ज्ञान और बुद्धि पर

दयानन्दियों को अभिमान है, यह उसकी धर्मशिक्षा का नमूना है। मैं अनुमान करता हूं, कि ऐसी बातों को शरीफ तो क्या कोई रजील भी कबूल न करेगा, दयानन्दियों को इख्त्यार है कि वह सत्य जाने या न जाने शास्त्र का मनशा ऐसा हरगिज नहीं—

इसी सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ९७ पर लिखा है कि "उत्तम स्त्री सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे" इस आज्ञानुसार तो उत्तम स्त्री यदि मुसलमान वा ईसाई वा भङ्गी चमार की भी हो तो ले लेवे, वाह खूब शिक्षा है—

पृष्ठ २५८ पर लिखा है कि यदि गर्म देश हो तो शिखा (चोटी) समेत सफा करा देना चाहिये, क्योंकि सिर में बाल रहने से गरमी अधिक होती है, और इस से अक़ल कम होजाती है, दयानन्द की होशयारी पर ध्यान देना चाहिये, कि हिन्दुपन का चिन्ह तक मिटाना चाहा है—

संस्कारविधि १९३३ की छपी के पृष्ठ ११ पर लिखा है कि जो चाहे कि मेरा बेटा पण्डित दुश्मनों को फतेह करने वाला और सब वेद वेदान्त का पढ़ने और पढ़ाने और सारी उमर भोगने वाला हो, तो मांस के साथ भात पकाकर खावे, यह अपूर्व औषधि है—

पृष्ठ ४२ गल्ला वगैरह का इच्छा वाला गोसपद के मांस का भोजन और विद्या का इच्छा वाला तीतर का मांस खावे, यजुर्वेद भाष्य अध्याय पहला मन्त्र ५ का भावार्थ—जो झूठ बोलने वाले हैं, वह असुर राक्षस वगैरह नामों के योग्य हैं, स्वतः दयानन्द और कोई दयानन्दी झूठ बोलने से सर्वथा

रहित नहीं होसकता, दयानन्द के लेखानुसार वह किन नामों के योग्य हुए, पहले सत्यार्थप्रकाश में गाय बैल वगैरह का मारना, मांस वगैरह से होम करना, पिंडदेना, और मांस खाने की पुष्टि लिखी थी, दूसरी वार के सत्यार्थप्रकाश में लोगों की लज्जा से उसको निकाल दिया परन्तु दिल से वह चेष्टा दूर न हुई थी, फिर वेदभाष्य में गाय का नहीं तो नील गाय वगैरह का मारना लिख दिया—अफसोस—

दयानन्द में था न दया का नाम
दयालु से होता नहीं ऐसा काम ॥

सत्यार्थप्रकाश मुद्रित १८७५ के पृष्ठ ३०३ में लिखा है कि एक बैल से हजार गायें गर्भिनी होती हैं, यहां वही अभिप्राय है वा अन्य कुछ, अध्याय २९ मंत्र ४० का भावार्थ, मातावत् सुख देने वाली पत्नि मेरे सुख को प्राप्त हो, क्या खूब, क्या जोरु भी मातावत् सुखदेने वाली होती है ? दयानन्द की पुस्तकों से नमूना मात्र उक्त लेख संक्षेप से लिख दिये हैं— अब उनके संन्यास और लोभ का कुछ वृतान्त लिखा जाता है, देखो १८७५ के छपे सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १५९पर संन्यासी के लिये स्वयमेव लिखा है कि धन की इच्छा और धन के उपार्जन करने में उपाय न करे, उसको किसी सांसारिक व्योपार का करना उचित नहीं, पृष्ठ १६३—केवल भिक्षामात्र रखे, वृक्ष के तले रहे, वस्त्र खराब पहने, संन्यासी विना परमेश्वर के किसी से प्रेम न करे, पृष्ठ १६४—जब गृहस्थ खाना खाचुकें, तब संन्यासी उनके घर जाकर भिक्षा मांग ले, जब शारीरिक और मानसिक

सुखों की इच्छा प्रबल भई तो उक्त सत्यार्थप्रकाश में संन्यासी के लिये जो २ कुछ जरूरी लिखा था, सर्व भूल गये, प्रत्युत जब द्वितीय वृत्ति सत्यार्थप्रकाश मुद्रित हुआ तो इन सब बातों को उड़ा दिया, और अपने प्रथम लेख के सर्वथा प्रतिकूल व्यवहार प्रारम्भ कर दिया, धन का लोभ इतना बढ़ गया कि राजा जयकृष्णदास सी.एस.आई. मुरादाबाद निवासी से साठ रुपया मासिक वेतन नियत था, प्रायः लोग धर्मार्थ रुपया देते थे, जिस में से थोडा सा वेदभाष्य पर छपा हुआ है, तथा सर्व समाजों को यह नोटिस दिया गया कि व्याकरण की पुस्तकें छपवाने को रुपया की जरूरत है, सर्व महाशय चन्दा करके रुपया रवाना करें. छपजाने पीछे उनका उतने ही रुपया की पुस्तकें देदीजावेंगी, मानो कि उस नोटिस के प्रताप से अनुमान पांच हजार रुपया सर्व समाजों से आगया, और पुस्तक छपकर चोगुणे मूल्य पर बेची गई. परन्तु चन्दा देने वाले महाशयों को एक पुस्तक भी न दीगई। कालांतर पीछे समाजों को यह लिखा कि जिन २ लोगों ने व्याकरण की पुस्तकें छपवाने को रुपया ऋण तरीके दिया था, यदि वह उसको धर्मार्थ छोडदें, तो वेदभाष्य के काम में आजावेगा.अस्तु,सर्व समाजों ने स्वीकार कर लिया, और वह रुपया दयानन्द के ही पास रहा, इतनी द्रव्यप्राप्ति होने पर भी खास टाइप का कारखाना खोला, और किताबों की चोगुणी कीमत रखी,और उन पर रजिस्टरी कराई ताकि और कोई छपा न सके, इस व्योपार के प्रताप से हजारों का लाभ हुआ,राजवाडों से बहुधन मिला,परन्तु धनाभिलाषा पूर्ण न हुई, सर्वदा यही नोटिस जारी रहा,कि यदि समाजों से चन्दा

होकर रुपया आवे तो वेदभाष्य शीघ्र समाप्त होजावे, अन्त में यह नोटिस भी जारी हुआ था कि सब समाजों से एक लाख रुपया जमा होजावे तो उपदेशमण्डली नियत करके यत्र तत्र अपने धर्म का प्रचार किया जावे, दयानन्द के देहांत पीछे प्रकट हुआ कि पैंतीस ३५०००) हज़ार रुपया नकद बम्बई में किसी सेठ की दुकान पर जमा था, पहले यह किसी को मालूम न हुआ, सेठ की दुकान पर इतना रुपया जमा रखना और समाजों से सदा रुपया मांगते रहना क्या सिद्ध करता है—आहार विहार की यह गति थी कि कोठी और बङ्गलों में ठहरते थे, गद्दी और तकियों पर आराम होता था, निवार के पलङ्ग पर सोते थे, सदा पान चबाते थे, हुक्का पीते थ, ब्राह्मण उत्तमोत्तम रसोई त्यार करता था, कहार हाथ पाओं धुलवाता था, चादर और दोशाले ओढते थे, विशेष लिखना व्यर्थ है, यह भी स्मरण रहे कि दयानन्द केवल सनातनधर्म ही के विरुद्ध न था, प्रत्युत उसने प्रत्येक धर्म के नेताओं को बुरा भला करके ही लिखा है, और सब पेरें असत्यारोपों की दृष्टि की है—

## गज़ल

दुनिया में आके स्वामी जी क्या काम कर गये,
अफसोस आर्य धर्म को बदनाम कर गये ।
किस को खबर है मर के हुई उनकी क्या गति,
वह अपनी जिन्दगी मे तो आराम कर गये ।
जायज नियोग कर दिया दस मरद से गज़ब,
शर्म हिया का खून सरे आम कर गये ।

ख्वाहश हो हामला को तो वह भी करे नियोग,
बेहोश हाके क्या वह यह इरकाम कर गये।
सत्यार्थ में लिखा है करो होम गोश्त से,
जान वेज़बानों की तह समसाम कर गये।
आई दया न शर्म लिखा कतल गाय का,
स्वामीजी हाय! क्या बुरा काम कर गये।
मुक्ति सदा को लिखके लिखी उससे बाज़ गश्त,
नाहक ही पुख्ता बात को वह खाम कर गये।
लिखा सरीह वेद में साकन ज़मीन को,
क्यों वेद के खिलाफ वह एलाम कर गये।
अच्छे मिले तबीब शफा की थी आर्जू.
बरअकस इसके और वह सरसाम कर गये।
भारत का धर्म कर दिया गारत यह क्या किया,
दुनियां ओ दीन में अपना बदअञाम कर गये।
क्या क्या ब्यां करूं तेरे स्वामी की खूबियां,
बस आफताबेहिन्द की वह शाम कर गये।
नेकी करेगा नेक जगन्नाथ पायेगा,
पायेंगे वह बुरा जो बुरा काम कर गये।

अब सज्जन पाठकजनों को स्वामीजी की लीला और उन के उपदेशों का माहात्म्य विदित होगया होगा, कि स्वामीजी ने हिंसा और विषय के प्रचार में कैसा प्रयास किया, क्या संन्यासियों और परिव्राजकाचार्यों का यही धर्म है?

पृष्ठ ४७१ पर समीक्षक बनकर स्वामीजी लिखते हैं कि "भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इनके साधु गृहस्थ, और तीर्थंकर जिनमें बहुत से वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये और श्रीकृष्णादि महा धार्मिक महात्मा सर्व नरक को गये यह कितनी बड़ी बुरी बात है"? इस लेख से स्वामीजी की मनशा केवल लोगों को बहकाने और भड़काने की है, बड़े शोक का अवसर है कि स्वामीजी ने सरस्वतीपना इसी स्वभाव में समाप्त कर दिया। सत्य है जो स्वभाव हो, वह कभी नहीं छूटता—

उक्तंच—योहि यस्य स्वभावोस्ति स तस्य दुरतिक्रमः।

**आर्या**—क्या स्वामीजी ने यह झूठ लिखा है?

**जैनी**—हां! जैनतीर्थंकरों के इतिहास पढ़ने से और उनकी मूर्त्तियां देखने से निश्चय होता है कि वह परम त्यागी, वैरागी, शांत, दांत, महांत और सर्वज्ञ थे, और कामदेव को जीतनेवाले थे, तथा हि :—

कोऽयं नाथ! जिनो भवेत्तव वशी हूँहूँ प्रतापी प्रिये।
हूँ हूँ तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियाम्॥
मोहोऽनेन विनिर्जिताः प्रभुरसौ तत्किंकराः के वयम्
इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वः प्रभुः पातु नः॥

यदि ऐसे महात्माओं को कोई भड्डड़ धर्मभ्रष्ट जैनशास्त्र से अनभिज्ञ कुशीलिये लिखे तो लिखने वाला ही वर्णशङ्कर समझा

जायगा, इसलिये कि पीतरोगी को सब पीत ही प्रतीत होता है स्वामीजी तो पक्षपात का ऐसा चश्मा चढ़ा बैठे थे कि अन्धाधुन्ध जो आया सो घसीट मारा, उचित तो यह था कि किसी जैनग्रन्थ का प्रमाण देते ॥

**आर्य**—मान लिया, कि आपके तीर्थंकर ऐसे न थे, परन्तु साधुओं की बाबत क्या ख्याल है ?

**जैनी**—स्वामीजी का सम्पूर्ण लेख असत्य और कल्पित है, क्योंकि जैनी साधु * पांच महाव्रतधारी होते हैं,उनमें किसी प्रकार के विषय विकार की सम्भावना होही नहीं सकती, यदि कोई साधु धर्मभ्रष्ट होजावे तो उसको हम साधु ही नहीं मानते और नाही वह मुक्ति जासकता है, तात्पर्य्य यह कि यदि कोई संन्यासी वा वैरागी अपने धर्म से च्युत होकर अनिष्ट निन्दनीय कार्य करने वाला हो, उसका दृष्टान्त देकर मतनिन्दा करना बुद्धिमानों का कर्तव्य नहीं। जिस श्रीकृष्णजी को जैनी नरक गया कहते हैं, उस श्रीकृष्णजी को हुए ८६४३९ वर्ष हुए मानते हैं और वह श्रीकृष्णजी जैनों के बावीसवें अवतार श्रीअरिष्टनेमि जी के परमभक्त थे, और भविष्यत् चौवीसी में अमम नाम के १२ वें अरिहंत होंगे, परन्तु युद्ध, राजभोग और विषयासक्त होने से नरक में गये, वहां से निकलकर अवतार होंगे, इस प्रकार का लेख जैनशास्त्रों में है, परन्तु जिस श्रीकृष्णजी को

* जीवहिंसा, १ झूठ, २ चोरी, ३ अब्रह्मचर्य, ४ और परिग्रह ( धन आदि ) ५ का त्याग, यह जैन साधुओं के पंच महाव्रत हैं ॥

लोग अवतार मानते हैं, और जिनको हुए केवल ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं उस श्रीकृष्णजी वासुदेव का वर्णन जैन-शास्त्रों में नहीं और नाही उसको नरक गया लिखा है ॥

मालूम होता है कि स्वामीजी केवल झूठ लिखकर श्रीकृष्ण जी के भक्तों को भडकाना और जैनों से शत्रुता करानी चाहते थे, परन्तु स्वामीजी ने जो निन्दा स्वतः की है, उसकी कोई सीमा ही नहीं,जहां तक कि श्रीकृष्णादि वैदिक धर्म के अवतारों कृत पुरान, गीता, भागवत, अष्टादशस्मृतियें इत्यादि सब ग्रन्थों को मिथ्या कहा है, जब यह ग्रन्थ असत्य हुए,तो उनके रचयिता श्रीकृष्णादि असत्य वक्ता और अज्ञानी सिद्ध हुए, तथा स्वामी जीने सब देवों की मूर्त्तियों की निन्दा की है, मानों देवों की निन्दा हुई—विशेष लिखने से क्या लाभ है, स्वामीजी के सेवक स्वतः निष्पक्ष बुद्धि से विचारें कि स्वामीजी ने द्वेषभाव के वश होकर क्या २ अनुचित कार्य किये हैं। उचित है कि दयानन्दी यथा स्वामी जी की मूर्त्ति की विनय प्रतिष्ठा करते हैं, तथैव अन्य अवतारों की मूर्त्तियों को भी मानें और दर्शन किया करें ॥ लोग यह न समझें कि स्वामीजी द्वेषी निन्दक थे,

---

नोट—यदि वैदिक लोग अपने श्रीकृष्णजी को व्यतीत हुए हमारे बराबर वर्ष मानते हों तो स्वामी जी की बात को वह बेशक मान लेंवे, अन्यथा नहीं, क्योंकि हम तो साफ यही कहेंगे कि श्रीकृष्णजी को हुए ८६४३९ वर्ष व्यतीत हुए, वह नरक में गये और हम उन को वासुदेव कहते हैं ॥

आपने श्रीकृष्णजी को सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४७१ पर महात्मा लिख दिया, परन्तु यह सब चालाकी है, और पबलिक को धोका देना है ॥

पृष्ठ ४७२ पर लिखा कि "जैसे शैव वैष्णवादि के तीर्थ और क्षेत्र जल स्थल जड़ स्वरूप हैं वैसे जैनियों के भी हैं" इत्यादि स्वामीजी की कुतर्क व्यर्थ है, क्योंकि जड़ से मुक्ति प्राप्ति प्रथम सिद्ध होचुकी है, स्वामीजी विवेकसार का भावार्थ समझे ही नहीं, जैन शास्त्रों में काशी आदि तीर्थों में जाने का निषेध नहीं। फिर स्वामीजी ने लिखा है कि यथा अन्य मतधारी मुक्ति को ऊंचा मानते हैं, तथैव जैनी भी मानते हैं। हम पूछते हैं, कि स्वामीजी ने मुक्ति कहां पर मानी है ?

**आर्य्य**—मुक्त जीव स्थूल शरीर को त्यागकर संकल्पमय शरीर द्वारा आकाश के भीतर परमेश्वर में फिरते हैं, क्योंकि वह शरीर वाले होते हैं ॥

**जैनी**—आपका ईश्वर सर्वव्यापक होने से मुक्ति के जीव तो क्या संसारी जीव भी परमेश्वर में ही विचरते हैं, तो फिर मुक्तात्मा और संसारी जीवों में क्या भेद रहा ? यदि कहोगे कि मुक्तात्मा जीव शरीर रहित होता है, तो हम कब कहते हैं कि मुक्तात्मा देहधारी होते है ? हम भी तो अशरीरी ही मानते हैं, यदि कहोगे कि मुक्तात्मा आकाश में रहते हैं, तो क्या जैनियों के मुक्तात्मा आकाश से बाहिर रहते हैं ? नहीं, नाही वह

आकाश के बाहिर रहते हैं और नाही किसी शिला के सहारे रहते हैं। दयानन्दजी की इच्छा थी कि जैनी भी हमारी तरह नष्ट भ्रष्ट स्वरूप वाली मुक्ति मानें परन्तु जैनी तो ऐसे नियोगोपदेशक का सङ्ग भी बुरा समझते हैं। प्रियसज्जनो ! सर्व इच्छा से विहीन होने पर ही बुद्धिमानों ने जब मुक्ति मानी तो बाबाजी ने मुक्ति में भी संकल्पमय शरीर माना,स्वामीजी के मत में इच्छा निरोध बुरा समझा गया, क्यों न समझा जाय, नियोग का उपदेश भी तो इसी स्वभाव का प्रताप है। फिर स्वामीजी लिखते हैं कि "चाहे वह शिला पैंतालीस लाख से नब्बे लाख कोश ही होती, तो भी वे मुक्त बन्धन में हैं, क्योंकि उस शिला वा शिवपुर के बाहिर निकलने से उनकी मुक्ति छूट जाती होगी, और सदा उस में रहने की प्रीति और उससे बाहर जाने में अप्रीति भी रहती होगी, जहां अटकाव, प्रीति और अप्रीति है, उसको मुक्ति क्यों कर कह सकते हैं" परन्तु यह सब स्वामीजी की कुतर्कें निष्फल हैं, स्वामीजी मुक्ति के स्वरूप को जानते ही नहीं थे ॥

देखिये—यथा किसी तूंबे पर मृत्तिका द्वारा वस्त्र के कई लपेट लगे हुए हों, तो वह पानी में डूबा रहता है और जब पानी द्वारा शनैः शनैः मिट्टी के घुलजाने से वस्त्र के लपेट पृथक् होजाते हैं, तो वह तूंबा पानी के ऊपर २ आताजाता है,क्योंकि उसका स्वभाव उर्ध्वगमन है. इसीप्रकार अष्टकर्म रूप मल के नाश होने से निर्लेप जीव तूंबे की न्याई उर्ध्वगति को प्राप्त होते

हैं, और जब उनमें रागद्वेष नहीं तो वह लोक के अग्र भाग को क्यों छोड जायेंगे और मुक्ति क्योंकर छूट सकती है ? और नाही उसी में रहने से हर्ष और अन्यत्रगमन से शोक होसकता है, " रागद्वेषाभावात् "=अच्छा एक संसारी जीव का दृष्टान्त देते हैं, देखो, कोई योगाभ्यासी योगाभ्यास करने को बैठे तो उस समय उसको भी उसी स्थान में रहने का हर्ष और त्यागने का शोक नहीं होता, तो रागद्वेषरहित मुक्तात्मा जीवों में स्वामीजी की कुतर्कें कैसे घट सकती हैं ? अपितु नहीं घट सकती हैं ॥

पृष्ठ ४७३ पर स्वामीजी ने लिखा है कि "दशार्ण राज महावीर के दर्शन को गया वहां कुछ अभिमान किया, उसके निवारण के लिये १,६,७७,७२,१६००० इतने इन्द्र के स्वरूप और १३,३७,०५,७२,८०,००००००० इन्द्राणी वहां आई थी. राजा देखकर आश्चर्य्य हो गया, अब विचारना चाहिये, कि इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिये ऐसे २ कितने ही भूगोल चाहियें"—स्वामीजी का यह लिखना सर्वथा असत्य है, क्योंकि जैनी ऐसे मानते ही नहीं, कि वहां इतने इन्द्र और इन्द्राणियां आई थी ॥ फिर श्राद्धदिनकृत्य की साक्षी देकर लिखा है कि बावड़ी कुआं और तालाब न बनवाना चाहिये, सो यह लेख भी सर्वथा असम्बन्ध का है, क्योंकि स्वामीजी श्राद्धदिनकृत्य के आशय को समझे ही नहीं, भावार्थ यह है कि यथा कोई

मशीन लगाये, और उसके लिये कुआं भी लगाये और उससे पुन्य समझे, उसको हम जैनी पुन्य नहीं मानते हैं, यह तो केवल स्वामी जी की ही बुद्धि की लीला है, कि उलटी ही तर्फ चलते थे-- विचारो कि जिस जैनमत में दया ही मुख्य धर्म का अङ्ग है, उस धर्म के प्रवर्त्तक उस का निषेध कैसे लिख सकते थे, भारत में हज़ारों जैनमन्दिर हैं, उनके लिये सब जगह कुएं और बगीचे लगे हुए हैं, और बड़े २ नगरों में जैनी धनाढ्यों के बगीचे बने हुए हैं, यदि जैनी इस को अकार्य समझते तो ऐसी प्रथा क्यों चली आती ? ॥

फिर लिखा है कि " एक नन्द मणिकार सेठने बावड़ी बनवाई उससे धर्म भ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए, मर के उसी बावडी में मेडुका हुआ " इत्यादि—स्वामीजी इस लेख से बावडी कुआं का न बनवाना जैनशास्त्रों से सिद्ध करना चाहते हैं-परन्तु स्वामीजी यहां पर भी भूले हैं, और जैनाचार्यों के आशय को नही समझे, क्योंकि नन्द जोहरी ने धर्मबुद्धि से बावडी नहीं बनवाई थी, इसलिये वह धर्मभ्रष्ट हुआ, अब विचारना-चाहिये, कि यदि वह धर्मार्थ बनवाता तो धर्म भ्रष्ट क्यों कहाता, और यदि मरण समय उसका शुभभाव रहता तो वह मेडुका क्यों बनता ? सर्व शास्त्रों को यह अभिमत है कि जिस वस्तु में जीव को विशेष मोह हो, अगले जन्म में वह उसी में जन्म लेता है-मरण समय नन्द जोहरी का विशेषतर ध्यान उस बावडी में रहा, अतः वह उसी में मण्डूक बना, हम पूछते हैं

जैनियों ने इस में क्या अनुचित किया, और दयानन्दजी को क्यों रोष आया ? फिर लिखा है कि "मृतक वस्त्र साधु लेलेवे देखिये—इनके साधु भी महा ब्राह्मण के समान होगये वस्त्र तो साधु लेवे, परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे। बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे" वाहजी वाह ! स्वामीजी यह लेख नशे में लिख गये मालूम देते हैं, क्योंकि स्वामीजी अन्ड बन्ड ही मार गये हैं—प्रथम तो जैनीसाधुओं के आभूषण ही नहीं होते, दूसरे मृतक के कपड़े रखना लिखा है यह सर्वथा असत्य है—तातपर्य यह है कि जब कोई साधु कालवश होजावे, तो पहने हुए कपड़े तो फैंक दिये जाते हैं और जो कंबलादि पृथक् होते हैं, वह अन्य साधु रख लेते हैं—वाह महा पण्डितजी ! खूब भ्रष्टार्थप्रकाश रचा है—जब स्वामीजी सामान्य लेख को न समझे तो सनातन मूर्त्तिपूजा के गूढ़ विषय को कैसे समझ सकते थे, और जैनाचार्यों के सामने उनकी बुद्धि की क्या तुलना होसकती है॥

फिर पृष्ठ ४७४ पर लिखा है कि "एक दिन लब्धि साधु भूल से वैश्या के घर चला गया और धर्म से भिक्षा मांगी वैश्या बोली कि यहां धर्म का काम नहीं किन्तु अर्थ का काम है तो उस लब्धि साधु ने साढे बारह लाख अशर्फी उसके घर में वर्षा दीं, इस बात को सत्य विना नष्टबुद्धि पुरुष के कौन मानेगा" स्वामीजी की यह कुतर्क समीचीन नहीं, बुद्धिमान तो इस बात को मानते हैं, जिनकी बुद्धि नष्ट और भ्रष्ट है, वही नहीं मानते, जैनसाधु परम वैरागी त्यागी और तेजस्वी होते हैं उनके प्रताप से उन को प्रायः कई प्रकार की लब्धियें अर्थात् करामातें प्राप्त

हो जाती हैं, तो उस लब्धिधारक साधु ने जिसका नाम स्वामीजी ने नही दिया और जिसका नाम नन्दिखेन था, अशर्फियां वर्षा दीं, तो क्या आश्चर्य्य की बात है, यह तो अतीतकाल की बात हैं, इस वर्तमान काल में भी कई पुरुष विद्या के बल से कई करामातें कर दिखाते हैं, अतः स्वामीजी की शङ्का व्यर्थ है—

**आर्या**—यदि साधुओं को लब्धियें थीं तो वह भिक्षा क्यों मांगते थे ?

**जैनी**—भिक्षा मांगना साधु लोगों का मुख्यधर्म है और साधु वही है जो भिक्षावृत्ति से जीवन व्यतीत करे, लब्धियां भी उन ही को होती हैं, जोकि परम त्यागी होते हैं, सण्डों मुशटण्डों और भोगियों को नहीं होतीं ॥ किसी का वैभव देखकर ईर्षा न करनी चाहिये, यह तो अपने भाग्य के अनुसार होता है, स्वामीजी क्यों विस्मयको प्राप्त हुए ? फिर स्वामीजी लिखते हैं कि "एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई उसका जहां स्मरण करे वहां उपस्थित होकर रक्षा करती है, ( समीक्षक ) कहो जैनी जी आजकल तुम्हारे चोरी, डाका आदि और शत्रु से भय होता ही है तो तुम उसका स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं करा लेते हो ? क्यों जहां तहां पुलिस आदि राजस्थानों में मारे २ फिरते हो ?" स्वामीजी का यह सारा लेख असत्य है, क्योंकि जैनियों के देव की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई नहीं होती, जैनी निर्मोही अरिहन्त को मानते हैं, किसी भी जैनशास्त्र में नहीं लिखा कि जैनियों का देव घोडे पर चढ़ा होता है, यदि स्वामीजी सच्चे थे तो नाम लिख जाते, परन्तु लिखते कहां से, झूठे के पैर कहां

तक ? जो बात बनावटी और असत्य होती है, उसे जरूर गोल मोल चालाकी भरे कपटाक्षरों में प्रकाश किया जाता है ॥ जैनी स्वकृत कर्मों को ही प्रधान मानते हैं और श्री अरिहन्त देव जो सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी थे, उनके निरूपण किये धर्मानुसार आचरण करते हैं, निर्मोही का ध्यान करने से उन में निर्मोह स्वतः उत्पन्न होजाता है, वही निर्मोहपना उन को पाप कर्म से बचाता है—जैनी ऐसे देव का जो सवारी आदि करता हो क्यों दर्शन करें ? यह आप लोगों की ही निर्बलता है कि ईश्वर को जगत का कर्त्ता हरता और सर्वशक्तिमान् मान कर भी राजस्थानों में धक्के खाते फिरते हैं क्यों, अपने सर्वशक्तिमान् ईश्वर से प्रार्थना नहीं करते ? क्या अधुना वह आपकी रक्षा करने में असमर्थ होगया है ? सृष्टि रचने में शक्तिमान् और रक्षावसर कायर, क्या यही सर्वशक्तिमानी है ? वाह, खूब आपका ईश्वर है ॥

फिर स्वामीजी ने तीन श्लोक लिखे हैं, प्रथम तो वह श्लोक ही अशुद्ध लिखे हैं द्वितीये अर्थ भी अनर्थ—सो सत्य ही है जब मूल ही अशुद्ध है, तो अर्थ कहां से शुद्ध हो—लीजिये स्वामीजीकी अनुपम संस्कृत पर दृष्टि दीजिये—आप लिखते हैं.

भुंक्ते न केवलं न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः,
प्राहुरेषामयं भेदो महान्श्वेताम्बरैःसह—

सो यह सर्वथा अशुद्ध है:-

भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बराः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैःसह ॥

ऐसे शुद्ध पद होसकता है परन्तु स्वामीजी तो "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानुमति ने कुनवा जोडा" इस कहावत को सार्थिक करना जानते थे, सत्य है जिन्हों ने वेदों के अर्थ पलटने में कोई कसर न रक्खी उन्हों के लिये एक साधारण श्लोक को अशुद्ध लिखकर मनःकल्पित अर्थ लिखदेना कोई बड़ी बात है? अपितु नहीं—यह तो स्वामीजी का स्वभाव ही था—

पृष्ठ ४७८ पर लिखा है कि "जैन लोगों का केशलुंचन सर्वत्र प्रसिद्ध है" "अब कहिये जैनी लोगो ! तुम्हारा दयाधर्म कहां रहा ? क्या यह हिंसा अर्थात् चाहे अपने हाथ से लुंचन करे चाहे उसका गुरु करे वा अन्य कोई परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा ? जीव को कष्ट देना ही हिंसा कहाती है" देखिये, स्वामीजी की कितनी अज्ञानता इस से प्रकट होती है—

**आर्य**—इसमें क्या अज्ञानता है ?

**जैनी**—साधु वा गृहस्थी जोकि धर्मपालनार्थ तप करते हैं, उसमें जीव को दुःख होता ही है, परन्तु उस में हिंसा नहीं, क्योंकि वह धर्मबुद्धि से स्वेच्छानुसार उसमें प्रवृत्त होते हैं, यदि ऐसे कार्य में भी हिंसा मानी जावे तो फिर सर्व शास्त्र असत्य माननें पड़ेंगे, यह तो केवल स्वामीजी के अज्ञान की ही लीला है जो वैदिकधर्मानुष्ठान में होते जप तप को हिंसा समझते हैं, यद्यपि जैनसाधुओं को केशलुंचन की मर्यादा है तथापि बालवृद्धों के लिये अपवाद भी प्रतिपादन किये हैं, बलाबल विचारकर गुरु केशलुंचन करते हैं, स्वामीजी की ऐसी व्यर्थ कुतर्कें जैनियों को किंचिदपि हानि नहीं देसकती हैं

**"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** यह हिंसा का सरूप है फिर स्वामीजी ने ढूंढक लोग जो मुंह पर पट्टी बांधते हैं उनके सम्बन्ध में बहुत विस्तीर्ण लेख लिखा है, परन्तु हमको उस का उत्तर देने की अनावश्यक्ता है, क्योंकि किसी भी जैनशास्त्र में मूंह पर पट्टी बांधनी नहीं लिखी है, और ना ही हम बांधते हैं, इसलिये इसका उत्तर मुंह पर पट्टी बांधने वाले देंगे, और हमारे तीर्थंकरो पर जो यह दोषारोप किया है, कि यदि वह विद्वान् होते तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों लिखते, यह सर्वथा असत्य है, तीर्थंकर देव तो त्रिकालदर्शी सर्वतत्त्ववेत्ता थे, उनका आदेश मुंह पर बांधने का नहीं है ॥

पृष्ठ ४७९ पर लिखा है कि जैनी लोग हरा साग खाने में जीवों का मारना और पीड़ा पहुंचाना मानते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है, आदि आदि--हम नहीं कह सकते, स्वामीजी की बुद्धि कहां गई थी, जो बुद्धि अनुकूल बातें हैं, उनका भी खण्डन घसीट मारा है, देखो वनस्पति में जीवों का होना सब को विदित है, वनस्पति पानी आदि देने से वृद्धि को प्राप्त होती है, लाजवन्ति को यदि पुरुष हस्त से स्पर्श करे तो मुरझा जाती हैं और यदि हस्त को उठाले, तो पुनः प्रफुल्लित होजाती है, बुद्धिमान् विचारें कि विना चेतनता के उसका मुरझाना और प्रफुल्लित होना कैसे संभव होसकता है ? इसलिये वनस्पति में जीवों का होना शास्त्रसिद्ध और युक्तिसिद्ध है, जब उसमें जीव है तो छेदन भेदन से उनका विनाश भी मानना ही पड़ेगा, जब विनाश हुआ, तो उनको पीडा भी माननी पडेगी, जब पीडा हुई, तो बस स्वामीजी की कुतर्क केवल लोगों को भ्रम-

जाल में फंसाने वाली है, तथा यह जो लिखा है कि " असन्त अंधकार महासुषुप्ति और महानशा में जीव है उनको सुख दुःख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थंकरोंकी भी भूल विदितहोती है"। प्रियपाठक महोदय विचारें कि स्वामीजी की कैसी अनुपम चालाकी है, कि ज्ञानांश अपने में नही और सर्वज्ञ तीर्थंकरों की भूल निकालते हैं--

**आर्या**—स्वामीजी में क्यों नहीं ज्ञानांश ?

**जैनी**—यदि वनस्पति के जीव असन्त सुषुप्ति और नशे आदि की दशामें रहते हैं तो पुरुष के हस्तस्पर्शसे लाजवन्ति का मुरझाना और उठा लेने से प्रफुल्लित होना क्योंकर संभव हो सकता है, ? इसी से तो ज्ञान का अभाव प्रतीत होता है ॥

यदि तुष्यन्तु खलु दुर्जनाः इस न्याय से उन जीवों को मूर्च्छित भी माना जाये तो क्या पाप न लगेगा ? वरावर लगेगा, जैसे किसी प्राणि को डाक्टर ने क्लोरोफार्म सुंघाया है जिससे वह मूर्च्छित है उस दशा में उसके किसी शत्रु ने तलवार से काट दिया तो क्या उस को पाप न लगेगा ? अवश्य लगेगा, वाह दयानन्द की बुद्धि ! इसी बुद्धि पर समाजियों को अभिमान है?

पुनः इसी पृष्ठ पर लिखा है कि "जब घर का अन्त है तो उसमें रहने वाले अनन्त क्योंकर होसकते हैं ? जब कंद का अन्त हम देखते हैं तो उसमें रहने वाले जीव अन्त क्यों नहीं, ? इस से यह तुम्हारी वात वड़ी भूल की है" ॥ हमारी भूल नहीं, वल्कि स्वामीजी की ही भूल है, देखो, जब रूपी पदार्थ किसी मितस्थान में अनन्त रह सकते हैं, तो अरूपी आत्मा अनन्त क्यों न रह सकें ? यदि एक हजार औषधियें

एकत्र करके वारीक करदी जावें और सूई के अग्रभाग पर जो औषधि है, उसमें सहस्र औषधों का अंश अवश्य होगा, सो अब विचारो कि औषधियें रूपी होने पर भी अति न्यून स्थान में हजारों समासकती हैं तो अरूपी आत्मा जिनको स्थानादि की आवश्यक्ता नहीं, वह क्यों न रह सकेंगे ? अपितु रह सकेंगे ॥

पुनः स्वामीजी ने पृष्ठ ४७९ पर लिखा है कि तुम लोग गरम पानी पीते हो सो जीवों को मारकर पीते हो, इस से तो ठण्डा पीने वाले अच्छे हैं---स्वामीजी की यह कुतर्क निष्प्रयोजन है, क्योंकि गरम पानी पीने में अनेक गुण भी है, जो स्वामी जी को स्वप्नगत भी न हों---स्वामीजी पानी गरम करने से जीवों का मरना जैनशास्त्रानुसार मानते थे वा वेदानुसार? वेदानुसार तो मान ही नहीं सकते, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के लेख से ही प्रतीत होता है आप पानी में जीव नहीं मानते, यदि जैनशास्त्रानुसार पानी गरम करने में जीव मरते मानते है, तो गरम पानी के गुण वर्णन करते क्या लज्जा आती थी, प्रथम तो साधु पानी गरम ही नहीं करते, तो उनको पाप ही क्या, गृहस्थी लोग अपने लिये गरम करते हैं, साधु भी ले आते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ लोग आहार अपने लिये त्यार करते हैं, साधु भी ले आते हैं, जैनसाधुओं को सर्व प्रकार की सचित्त ( सजीव ) वस्तु के ग्रहण करने का परित्याग है, पानी जब गरम किया जाता है तो अचित्त होजाता है और साधु ले आते हैं ॥ द्वितीये---गरम पानी पीने से काम विकार शांत रहता है, इन्द्रियें दमन रहती हैं और शिथिल होजाती हैं, तृतीय--कच्चे पानी में समय समय जो असंख्याते जीव उत्पन्न होते हैं, गरम

पानी मे वन्द होजाते हैं, चतुर्थ—डाक्टर हकीमों की भी सम्मति है कि उष्णपानी निरोगी है गरम होने करके अशुद्ध अपवित्र पदार्थों के अन्तर्भूत होने से—पानी सचित्त समझा जाता है, बस स्वामीजी का तो केवल कुतर्क करना धर्म था सो करके लोगों को भ्रमजाल में फँसा गये हैं—

**आर्य्या**—यदि साधु गरम पानी न पीयें तो गृहस्थ लोग गरम क्यों करें ?

**जैनी**—वाह साहव ! आप तो वड़े बुद्धिशाली हैं, यदि साधु उष्ण पानी न पीयें तो क्या गृहस्थ पानी गरम करना छोड़देंगे ? कदापि नहीं ॥ आपकी यह शंका तो उस अवस्था में उचित है कि जव केवल साधु ही उष्ण पानी का उपयोग करते हों, परन्तु प्रत्यक्ष है कि हजारों गृहस्थ लोग स्नानादि अपने अनेक कार्य्यों के लिये पानी गरम करते हैं ॥ स्वामीजी का यह लिखना कि गृहस्थी जान कर साधुओं के वास्ते पानी गरम करते हैं असत्य है, क्योंकि साधु ग्रामानुग्राम विहार करते अचानक जाते हैं, और गरम पानी मिल जाता है, रास्ते में कई ग्राम ऐसे भी आते हैं, जहां जैनी का एक घर भी नहीं होता, तो भी पानी गरम मिल जाता है, इससे निश्चय होता है कि श्रावक लोग साधुओं के निमित्त पानी गरम नहीं करते, तथा श्रावकों को प्रायः उपदेश सुनने से यह विदित होगया है कि यदि साधुओं के निमित्त पानी गरम करके देंगे तो पाप लगेगा, यह भी नहीं कि जैनसाधु केवल श्रावकों से ही अन्न पानादि लेते हों, क्षत्री, ब्राह्मण, वनिये के घर से भी ले आते है, इसलिये सिद्ध होता है कि गृहस्थ अपने

लिये जो अन्न पानादि त्यार करते हैं, जैनसाधु स्वशरीर निर्वाहार्थ निर्दोष समझ कर उस में से थोड़ा २ भिक्षावृत्ति से मांग लेते हैं—

पृष्ठ ४८० पर लिखा है कि "तीर्थंकरों का मत सच्चा होता तो सृष्टि में इतनी वर्षा नदियों का चलना और इतना जल क्यों उत्पन्न ईश्वर ने किया ? और सूर्य्य को भी उत्पन्न न करता क्योंकि इनमें क्रोडान क्रोड जीव तुम्हारे मतानुसार मरते ही होंगे जब वे विद्यमान थे, और तुम जिन को ईश्वर मानते हो उन्होंने दया कर सूर्य का ताप और मेघ को बन्द क्यों न किया ?" यह लेख स्वामीजी के विशेष अज्ञान का उद्योतक है। क्योंकि जैन ईश्वर को कर्त्ता ही नहीं मानते हैं जैनों का अटल सिद्धान्त "ईश्वर अकर्त्ता" जगत विख्यात होने पर भी स्वामीजी ने उक्त कुतर्क की है इस से प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने अज्ञानता के नशे में उक्त कुतर्क की है—ईश्वर युक्ति प्रमाण से कर्त्ता सिद्ध हो ही नहीं सकता, यथा ईश्वरवादियो के मत में ईश्वर स्वतः सिद्ध और अनादि है, और ईश्वर को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं, तथैव जैन भी जगत को अनादि मानते हैं—जैनों का ईश्वर ही नीरागी है, अतः संसार के धंधों में क्यों पड़ेगा—

उक्तंच भर्तृहरिणा—

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्द्धधारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललना संगो न यस्मात् परः,

दुर्व्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः,
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः*

आर्या—यदि शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदाता ईश्वर नहीं, तो कौन है ?

जैनी—शुभाशुभफलप्रदाता स्वतः कर्म ही हैं, जैसा करेगा वैसा भोगेगा ॥

आर्या—जीव अशुभ कर्म का फल भोगना नहीं चाहता.

जैनी—कौन कहता है कि जीव चाहता है ? यद्यपि जीव नहीं भी चाहता, परन्तु अवश्यमेव फल भोगना ही पड़ता है; देखो, यद्यापि लोहा नहीं चाहता कि चमकलोह ( मिकनातीस ) की ओर खेंचा जाऊं परन्तु खींचा जाता है, तथैव कर्म रूप चमकलोह जीव रूप लोह को स्वतः आकर्षण कर लेता है, अतः ईश्वर को फलप्रदाता बनने की जरूरत नहीं ॥

आर्या—यदि ईश्वर फल नहीं दे सकता, तो उस को मानना ही व्यर्थ है ॥

जैनी—नहीं, व्यर्थ नहीं, ध्येय के विना ध्यान नहीं हो सकता, अर्थात ध्याता जब तक किसी पदार्थ का स्वरूप-आकार अपने मन में कल्पना न कर ले तब तक ध्यान नहीं हो सकता

---

* आधुनिक जैनेतरों ने जिनदेव की स्तुति समझ कर पुस्तकों की पुनरावृत्ति में से इस श्लोक को निकाल दिया है परन्तु प्राचीन पुस्तकों में विद्यमान है ।

सो सर्वोत्तम पदार्थ ईश्वर ही है उसी को ध्येय मान कर ध्यान करना सफल हो सकता है, देखो, जिस समय हम ईश्वर का ध्यान करते हैं, उस समय हमारा आत्मा पाप करने से बचता है, पाप से जो बचना है वही लाभकारी है, अतः ईश्वर का मानना और पूजन करना सार्थक है ॥

फिर लिखा है कि "जो तुम्हारे मतानुसार सब मनुष्य हो जावें चोर डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवें, तो कितना बड़ा पाप खडा हो जाय?" स्वामीजी की बुद्धि पर वलिहारी, दूर की सूझी है, परंतु यह नहीं विचारा कि जब सब जैनमतानुसार ही हो जावें तो वह चोरी आदि ही न करेंगे, और जब चोरी आदिक कुव्यसनों का अभाव हो जायगा तो फिर दण्ड की ही क्या आवश्यक्ता है? और जब दण्ड ही न रहा तो स्वामीजी की * डंड हीं अंड वंड है ॥

तदनंतर स्वामीजी ने पुनः मुख पट्टी बांधने के संबंध में जो कुछ भी लिखा है, हम उस का प्रत्युत्तर देने को उद्यत नहीं हैं, क्योंकि जो लोक मुख पट्टी बांधते हैं, यदि वह सच्चे हैं, और इसे सिद्ध करने को सामर्थ्य हैं, तो वह स्वतःएव प्रत्युत्तर देंगे—स्वामीजी की बुद्धि पर अज्ञानता का कोई गाढ़ावरण जरूर आया होगा, क्योंकि स्वामीजी ने पुनरापि केशलुंचन के संबंध में कुयुक्तियें लिखी हैं, वार२एक ही सम्बन्ध में लिखना बुद्धिमानों का कार्य नहीं ॥

पुनर लिखा है कि "हाथी, घोडे, वैल, ऊंठ पर चढ़ने और मनुष्यों को मुज़दूरी कराने में पाप जैनी लोग क्यों नहीं गिनते?"

---

* कोलाहल ।

स्वामी जी का यह लेख विचार पूर्वक का नहीं, क्योंकि इसमें पाप है, और इसीलिये जैन त्यागीसाधु पूर्वोक्त जीवों का वाहन नहीं करते, और जो जैनगृहस्थ हैं, उनका निर्वाह नहीं चलता, इसलिये घोड़े आदि पर चढ़ते हैं ॥

पृष्ठ ४८१ तथा ४८२ पर जैनावतारों के शरीर परिमाण और उनकी आयु लिखकर स्वामीजीने ऐसे वड़े शरीर और लंवी आयु का होना असंभव सिद्ध करने का साहस किया है, सो सर्वथा निष्फल है, क्योंकि पक्षांधः पुरुष गुण अवगुण को नही विचार सकता, इसलिये पक्षपात रहित हो कर विचारा जावे, तो पदार्थ के तत्व निश्चय होते हैं, देखो, प्रत्यक्ष है कि उन्नीसवीं सदी के जो मनुष्य हैं, वह इस वीसवीं सदा के मनुष्यों से विशेष लंवे शरीर और दीर्घ आयु वाले हैं, कारण यही कि पृथिवी में रस कसादि विशेष होने से उससे उत्पन्न हुए अन्नादि विशेष गुण वाले होते हैं, और जो जीव उस अन्नादि को खाते हैं, उनके शरीर का वल और परिमाण भी अधिक होता है और उसी समयानुसार आयु भी होती है, यथा—पंजाव की भूमि गुजरात और काठीयावाड़ की भूमि से अधिकतर वलवती है, और इसीलिये पंजाव के मनुष्य गुजरातादि के मनुष्यों की अपेक्षा अधिक वलवान और लंवे शरीर वाले होते हैं, पंजाव से कावल की भूमि अधिक वलवती है, इसीलिये वहां के मनुष्य पंजावीयों से लंवे और वलवान हैं, जव ऐसे है तो निश्चय होता है कि आधुनिक समय की भूमि में क्रोड़ा गुण विशेष वल उस समय की भूमि में था जव हमारे अवतार हुए थे, जव क्रोड़ों गुण विशेष रसकसादि भूमि में था तो उस समय के पुरुष क्यों वड़े शरीर

और दीर्घायु वाले न हों ? अपितु अवश्य हों, इसलिये स्वामीजी की कुयुक्ति व्यर्थ और असार होने से त्यागने योग्य है—तथा

एक प्रोफैसर अडोरकिक साहब बहादुर स्वरचित भूस्तर विद्या के ग्रंथ में लिखते हैं कि पहले समय में उड़ने वाले गरोली (छिपकली)जाति के पक्षी इतने बड़े लंबे थे, कि उनके पर सताईस २७ फुट लंबे थे जब पक्षियोंका शरीर पहले समयमें इतना लंबा होता था तो फिर उस समय के मनुष्योंकी बड़ी देह और दीर्घायु होने में क्या आश्चर्य्य है. स्वामीजी ने विना प्रमाण ही पक्षांध होकर लिख दिया कि जैनियों के सब गपौड़े हैं—प्रिय पाठकजन विचारें कि यदि जैनियों के ग्रंथ असत्य होते तो चौबीस अवतारों के देहमान और आयु एक सरीखे लिखे होते, परंतु नहीं, जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी का आयु और देह बड़ी लिखी हैं और दूसरे तीर्थंकर श्रीअजितनाथ जी की आयु और देहमान श्रीऋषभ देव जी से छोटी लिखी है क्योंकि श्रीअजितनाथजी श्रीऋषभदेवजी से करोड़ों वर्ष पीछे हुए, इसलिये उनकी आयु और देह उस समय के अनुसार जितनी थी उतनी सत्य २ लिखी है, इसी अनुक्रम से जैसे २ समय आता गया वैसे २ आयु और देह अल्प होती गई और जैनों के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीजी की आयु बहत्तर (७२) वर्ष और देह सात हाथ रह गई, तथा देखने सुनने में भी आता है कि इस समय में भी सौ सवासौ वर्ष की आयु के पुरुष किसी २ जगह विद्यमान हैं इसलिये कालानुसार देह और आयु का बढ़ना घटना युक्ति सिद्ध है और जैनावतारों की दीर्घ आयु और बड़ी देह का होना प्रमाणिक है और जैनशास्त्र भी सत्य हैं।

केवल स्वामीजी की ही गप्प है कि विना माता पिता के सृष्टि में कूदते फांदते मनुष्य पैदा होगये, वाह वलिहारी स्वामी तेरे असूलों की ॥

पृष्ठ ४८३ पर स्वामीजी समीक्षक वन कर लिखते हैं कि "एक मानुष्य ग्राम के वरावर पाषाण की शिला को अंगुली पर धर सकता है और पृथ्वी के ऊपर अंगूठे से दावने से पृथिवी कभी दव सकती है? और जव शेष नाग ही नहीं तो कंपेगा कौन!" स्वामीजी का यह लेख भी अज्ञानता का है क्योंकि जव हम प्राचीन काल के मनुष्यों की देह और वल युक्ति द्वारा सिद्ध कर आये हैं तो उन के लिये उठाना क्या वड़ी वात थी? अपितु नहीं ॥ अनुक्रम के प्रयत्न से आधुनिक समय में भी हीरासिंह चठयां वाले के और फतहसिंह वलदोयें वाले २७ मन की मुंगली और कूप के अरहट को उठा सकते हैं और राममूर्ति ने लाहौर आदि नगरी में हज़ारों मनुष्यों के समक्ष लोहे के संगल को तोड़ा है, और चालीस मन के पत्थर को अपनी छाती पर रखवाकर दूसरों से और भारी पत्थरों को तुड़वाया है और हाथी को अपनी छाती पर से उतरवाया है जब ऐसे २ वलवान पुरुष प्रत्यक्ष हैं तो प्राचीन काल में शिला का उठा लेना कोई अत्युक्ति न थी, और स्वामीजी की यह कुतर्क कि जव शेषनाग हि नहीं तो कांपेगा कौन? व्यर्थ है, क्योंकि जैन मानते ही नहीं कि पृथ्वी शेषनाग ने उठाई हुई है और शेषनाग उसके नीचे है।

फिर स्वामीजी ने लिखा है कि "छोटे से पात्र में ऊंट वुलाया भला छोटे से पात्र में कभी ऊंट आसकता है"? स्वामीजी का यह लेख सर्वथा असत्य है, मालूम होता है स्वामीजी की वुद्धि

अज्ञानता के नशे में चक्र खारही थी, क्योंकि जिस पुस्तक का प्रमाण दिया उसके उस पृष्ठ पर ऊंट बुलाने का वर्णन ही नहीं है॥

स्वामीजी ने जो लिखा है कि "महावीर को सर्प ने काटा रुधिर के बदले दूध निकला और वह सर्प आठवें स्वर्ग को गया भला शरीर के काटने से दूध निकलना किसी ने देखा है सिवाय इन्द्र जाल के दूसरी बात नहीं" स्वामीजी का यह लेख असत्य है, क्योंकि श्रीमहावीरजी के शरीर से दूध नहीं निकला, अपितु वह लहु ही स्वेत रंग का था, यथा पद्मनी स्त्री के पसीने में सुगंध और शंखणी स्त्री के पसीने में दुर्गंध होती है, तथैव अवतारी पुरुषों के लहु के वर्ण में भेद होने में क्या आश्चर्य्य है ? जब श्रीमहावीरजी को सर्प ने काटा तो उन्होंने सर्प को ज्ञान सुनाया और सर्प को जाति स्मर्ण ज्ञान हो गया जिस से सर्प ने जान लिया कि मैं पहले जन्म में वहुत क्रोधी था अतः मर कर सर्प वना हूं अब क्रोध का परित्याग उचित है, ऐसा विचार कर उसने जीवों को काटना और खाना त्याग दिया और धर्मक्रिया के प्रताप से वह आठवें स्वर्ग में गया, वतलाइये, इसमें क्या असंभव वात है ! क्या महात्माओं के उपदेश से पापी लोग धर्मी नहीं वन सक्ते ? और धर्म करने से शुभगति नहीं प्राप्त होसकती ? अपितु धर्म के प्रताप से सब कुछ होसकता है ॥

फिर स्वामीजी ने शंका की है कि " जब श्रीमहावीर के पग पर खीर पकाई तब उन के पग जल क्यों न गये?" स्वामीजी इसके भावार्थ को समझ ही नहीं सके, दृत्तान्त यूं है कि जब श्रीमहावीर स्वामीजी जंगल में ध्यानारूढ़ खड़े

थे, तब गवालिये ने उन के दोनों पगों के बीच अग्नि जला कर खीर पकाई, जिस से उन के पादयुगल को पीड़ा तो जरूर हुई किन्तु जले नहीं, क्योंकि इनका शरीर वज्रऋषभनाराच संघहन का था जिसका स्वरूप जैनशास्त्रों के पढ़े विना मालूम नहीं हो सकता।

फिर स्वामी जी ने लिखा है कि "जो शरीर का मैल नहीं उतारते और न खुजलाते होंगे, वह दुर्गंध रूप महा नरक भोगते होंगे" हमें इसका प्रत्युत्तर देने की आवश्यक्ता नहीं क्योंकि हम मैले ही नहीं रहते और न ही हमारे शास्त्रों में मैले रहने की आज्ञा है, कपड़े धोने साफ रखने की आज्ञा है और हम आज्ञानुसार शुद्ध रहते हैं, प्रतीत होता है यह कटाक्ष स्वामी जीका जैनाभास ढूंढकों प्रति है, अतः इसका उत्तर वह देंगे, और देना भी उन्हीं को उचित है ॥

स्वामी जी ने जो यह लिखा है कि "जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़ कर एक शहर में आग लगा दी,आदि आदि"सो इस को भी समझे नहीं,वृत्तान्त है कि जैन के एक प्रसिद्ध साधु दमसार जी एक ऐसे नगर में गये, कि उस नगर के वासी जो कोई भी साधु सन्त आ जावे उसको विना कष्ट दिये न छोड़ते थे, दमसार मुनि ने प्रथम तो उन लोगों को समझाने का प्रयत्न किया, कि धर्मी पुरुषों को पीड़ा देना पाप है, परन्तु लोगों ने न माना और स्वभावानुसार उस साधु को भी उपद्रव किया। मुनिजीने विचारा कि यह लोग ऐसे नही समझेंगे, तो उस समय उद्वेगजनक सूत्र पढ़ा कि तत्काल लोगों के दिल धडकने लगे, अन्त में दमसार मुनि के

पास आकर अपने अपकृत्यों की क्षमा मांगी और भविष्यत् काल ऐसा अनुचित कार्य न करने की प्रतिज्ञा करली,तब उक्त मुनि-राज ने अपनी विद्या पीछे आकर्षण करली और लोग पुनः स्थिरचित्त होगये॥ अब विचारना चाहिये कि उन्होंने ऐसा कार्य किस भाव से किया था और स्वामीजी ने किस चाल में लिखा है ? कहना ही पड़ेगा कि धर्मीपुरुष साधु संतों को जो उपद्रव होते थे, उनके निवारणार्थ—जब ऐसे प्रत्यक्ष है तो स्वामीजी को निःप्रयोजन वितंडावाद में टांग फंसाने की क्या आवश्यक्ता थी? क्या इससे स्वामीजी को जैनशास्त्रों का बोध होना सिद्ध होगया ? कदापि नहीं, तथा स्वामीजी ने लिखा है कि " जब महावीर के संग से भी उसका पवित्र आत्मा न हुआ तो अब महावीर के मरे पीछे उस के आश्रय से जैनलोग कभी पवित्र न होंगे", कौन कहता है कि उनका आत्मा पवित्र न हुआ ? कोई पागल कहता होगा ॥ उनका विगड़ा ही क्या था ? धर्म की रक्षा के लिये धर्मबुद्धि से अपने बल पराक्रम को किसी भी धर्म कार्य में प्रयुक्त करने में पाप नहीं, किसी धर्मी पुरुष के सामने किसी शीलवती स्त्री का कोई लुच्चा शील खण्डन करे तो क्या वह धर्मी पुरुष उस पापी को रोकेगा नहीं ? बराबर रोकेगा ॥ हां शायद स्वामीजी उस से भी उपेक्षा ही करें, क्योंकि जिन्होंने स्वतः ११ पति करने की आज्ञा देरखी है, उन के सामने ही किसी का शील भङ्ग होता हो तो उन को क्या परवाह है, वाह इसी फिलासफी पर जैन का खण्डन करने बैठे होंगे, सर्वज्ञ श्री महावीर तीर्थंकर जैसे निर्मोही के योग से योग्य जीव क्यों न तरेंगे, अपितु अवश्य तरें गे, क्रोधी, मानी, लोभी, अज्ञानियों की संगत से भवसागर में डूबेंगे ॥

पुनः स्वामीजी का लेख है कि "राजा की आज्ञा माननी चाहिये, परन्तु जैनी लोग वनिये हैं इसलिये राजा से डर कर यह बात लिख दी होगी"॥ स्वामीजी का पूर्वोक्त लेख दीर्घ विचार का नहीं है, राजा की आज्ञा निःसंदेह माननी चाहिये, जो लोग किंचिदपि राजा की आज्ञा का भंग करते हैं, वह बड़े २ कष्ट उठाते हैं, यावत् कारागारों में सर्वायु पूर्ण होने पर दुःख से मरते और नरकों में जाते हैं, इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, समाचार पत्र देखो॥ स्वामीजी ने केवल इस भाव और प्रकार से उक्त लेख लिखा है कि जैनियों की निर्बलता प्रकट हो, सो यह स्वामीजी की ही अज्ञानता है न तु जैनों का निर्बलत्व ॥ जैनावतार द्रव्य क्षेत्रकाल भाव के जानकार और त्रिकालदर्शी थे, उन्होंने जो कुछ कथन किया है, सत्य है, नतु स्वामीजी वत् अल्पज्ञान में जो आया, घसीट मारा ॥

पृष्ठ ४८३ पर स्वामीजी ने लिखा है कि "एक कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगा उस के ऊपर फूलों की ढकी हुई सूई खड़ी कर उस पर अच्छे प्रकार नाच किया । परन्तु सूई पग में गड़ने न पाई और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं, यह अतीव झूठ नहीं तो क्या है" ? स्वामीजी की यह कुतर्क उचित नहीं, क्योंकि कोशा वेश्या सरसों की भरी थाली और फूल रख कर इस प्रकार से नाचती थी कि जब नाचती हुई थाली के पास आती थी, तब उछल कर उस फूल पर से चार अंगुल ऊंचे ऐसी शीघ्रता से चक्र देती हुई झट भूमि पर पग लगा देती थी, जिस से फूलों, सूई और सरसों को अपना पग स्पर्श न होने देती थी, देखने वालों को

प्रतीत होता था कि सरसों की भरी थाली पर क्या अपूर्व नृत्य किया है, स्वामीजी ने इस बात को कल्पित क्यों समझा, स्वामीजी स्वतः * नृतकला में ऐसे प्रवीन थे, कि जब बालावस्था में नृतकारी किया करते थे, तो दूर२ के लोग उन का नाच देखने को आते थे, इस कला में इतनी प्रवीनता होने पर भी स्वामीजी को यह बात न रुची, यह केवल पक्षपात का ही कारण है।

आधुनिक समय में भी कई पुरुष तथा स्त्रियें ऐसा मनोहर नृत करने वाली हैं कि उन के कृत्यों को देखकर बड़े२ बुद्धिमान चकित होजाते हैं, कोशा वेश्याने स्वशरीर को ऐसा साधा हुआ था कि जिस के प्रताप से अतीव मनोहर नृतकारी कर सकती थी

पृष्ठ ४८४ पर स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि "अब सुनिये! भूगोल खगोल के जानने वालो! इस एक भूगोल में एक प्रकार ४९२ और दूसरे प्रकार असंख्य चन्द्र और सूर्य जैनी लोग मानते हैं। आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक २ भूगोल खगोल विदित हुए जो कहीं जैन के महा अन्धेर में होते, तो जन्म भर अन्धेर में रहते" ॥

स्वामीजी सरासर आप अन्धेर में हैं और लोगों को प्रकाश के मिस से अन्धेर में प्रवेश करा रहे हैं। स्वामीजी की कुतर्क असत्य है, देखो, जैनी जितने द्वीपों और समुद्रों में जितने सूर्य और चन्द्र मानते हैं, उन सब को केवल एक ही भारत का सम्बन्ध करके लिखना प्रकटतया छलकपट है, इतने चन्द्र सूर्य

---

* देखो पण्डित जीयालाल जैनी फरुखनगर जिला गुडगाओ कृत दयानन्द छलकपटदर्पन पृष्ठ ८-९ ॥

एक ही भारत में जैनी नहीं मानते हैं, प्रत्युत अनेक द्वीपों की अपेक्षा इतनी संख्या मानते हैं। जैनों के "सूर्यप्रज्ञप्ति" और "चन्द्रप्रज्ञप्ति" "आरम्भसिद्धि" आदि ग्रन्थों के सामने आप के सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ ऐसे हैं, जैसे सूर्य के सामने दीपक। यदि कोई ज्योतिष विद्या का विद्वान् जैनधर्म के ज्योतिष ग्रंथों को अध्ययन करे तो विदित हो कि उन की रचना कैसी अत्युत्तम है॥

पुनः पृष्ठ ४८५ पर लिखा है कि "अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे भला जो तपते होंगे वे जीते कैसे हैं? और रात्री में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़े जाते होंगे"? स्वामीजी की यह कुतर्क भी असत्य है, जैनी एक ही स्थान में इतने सूर्य और चन्द्र मानते हों तो इतने सूर्य और चन्द्र तपें और जैनियों को पीड़ा दें, जैनियों के मन्तव्यों को समझने की योग्यता तो स्वामी जी में आप न थी, किन्तु खण्डन करने को खड़े होजाते थे, यह भी एक विचित्र लीलांश है कि छलकपट से ही खण्डन करना। देखिये, इतने सूर्य और चन्द्र तो जैनी लवणसमुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और पुष्करार्ध द्वीप में जो लाखों ही योजन के हैं, मानते हैं, दयानन्दजी पर उनके निराकार ईश्वर की ऐसी घोर कृपा हुई थी, कि अपशब्द और असत्य लिखने में ही चातुर्यता समझते थे, सत्य कहा है जिस के पास गालियां है वह गालीयां ही देगा, और जिसके पास गालीयां है नहीं, वह गालीयां देही नहीं सकता।

स्वामीजी जहां तहां मतमतान्तरों के खण्डन में उपहास्य

और अपशब्दों का ही प्रयोग करते रहे, सो यह बुद्धिमानों के स्वभावानुकूल न था। जैनियों के घट में ज्ञान सूर्य ऐसे प्रकाशकर रहे हैं कि आप के अज्ञानान्धकार में जैनी कदापि नहीं फँस सकते

स्वामीजी एक यह भी गप्प लिख गये हैं कि "सुमेरु विना हिमालय के दूसरा कोई नहीं" क्योंकि न किसी ज्योतिष ग्रन्थ में और न किसी धर्म शास्त्र में लिखा है कि हिमालय के अतिरिक्त कोई मेरु पर्वत नहीं है। स्वामीजी की इस गप्प को सामाजियों विना कोई सत्य न मानेगा।

पृष्ठ ४८६ पर लिखा है कि "जैनी लोग १४ (चौदह) राज्य मानते हैं,"लो,इसीसे आप स्वामीजीकी योग्यता का अनुमान करसकते हैं, स्वामीजी में जैनियों के धर्म सम्बन्धी शब्दों के समझने की योग्यता न थी,क्योंकि जैनी १४ राज्य नहीं, किंतु १४ रज्जु मानते हैं, जो एक मापे का नाम है न कि राज्य का।

फिर लिखा है कि "जिस का प्रदेश होता है, वह विभु नहीं जो विभु नहीं वह सर्वज्ञ केवलज्ञानी कभी नहीं होसकता" इस का खण्डन प्रथम कर चुके हैं, वार२ पिष्टपेशन व्यर्थ है॥

फिर स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि "भला तीन पल्योपम का आयु और तीन कोश के शरीर वाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समासकें, मुम्बई से शहर में दो और कलकत्ता ऐसे शहर में तीन वा चार मनुष्य निवास कर सकते हैं" स्वामीजी की यह कुतर्क भी समीचीन नहीं,क्योंकि हम पाहिले कह आये हैं कि जैनमत में शरीर की ऊंचाई का जो माप है, वह उत्सेदांगुल के हिसाव से है तीन कोश के मनुष्य धातकीखंड और पुष्करार्द्ध

द्वीपों में मानते हैं, धातकीखंड इस जम्बूद्वीप से आठ लाख कोश और पुष्करार्द्ध द्वीप ५६ लाख कोश दूर माना है। हम कब कहते हैं कि इस भूगोल में इतने लंबे शरीर वाले मनुष्य हैं, हम तो स्वामीजी की चालाकी पर बलिहारी है कि जिन्होंने जो कुछ भी लिखा है, चालाकी से भरपूर है।

पृष्ठ ४८७ पर मुक्ति सम्बन्धी जो कुछ समीक्षा की है, उस का खण्डन पूर्व कर चुके हैं.अतः द्वितीयवार खण्डन की अनावश्यक्ता है,क्या स्वामीजी की यही बुद्धिमत्ता है कि एक ही विषय का बार२ खण्डन करना ?। देखो–स्वामीजी फिर इसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि इतने बड़े आदमियों के लिये घर और थम्भे कितने बड़े होते होंगे और लट्ठ कहां से लाते होंगे,सो स्वामीजीकी शङ्का उचित नहीं, कीटिका ( च्यूंटी ) यदि विचारे कि हाथी के घर कितने बड़े होते होंगे,तो उसका यह विचार मूर्खता का है,देखो–मनुजी "हिरण्यकाश्यप" का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि; वह इतना ऊंचा था कि उस की पीठ सूर्य के बराबर पहुंचती थी, और उसका शेष शरीर सूर्य से भी ऊंचा था, इस बात को सत्य समझना चाहिये वा झूठ ? यदि कहोगे सत्य तो फिर जैनियों के तीन कोस लम्बे मनुष्य होने में क्या आश्चर्य्य है ? यदि कहोगे, असत्य है, तो आप के कहने से जैनियों की कुछ हानि नहीं है, क्योंकि जिस ने अपने वैदिकाचार्य्य के लेख को असत्य समझा, तो वह जैनियों पर असत्यारोप करे, तो कोई अचंभा नहीं।

फिर पृष्ठ ४८८ पर पल्योशम सम्बन्धी शङ्कायें की है, सो वह सर्व व्यर्थ हैं, इस का खण्डन पूर्व कर आये हैं। स्वामीजी की स्मरणशक्ति ही अद्भुत थी कि एक ही बात को बार २ लिखकर कागज काले करते थे।

फिर स्वामीजी ने लिखा है कि जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध द्वीपादि को जैनी लाखों योजन के मानते हैं, इस पन्द्रहसहस्र ( १५००० ) परिधि वाले भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं ? यह बात केवल मिथ्या है"। जैनी कब कहते हैं कि यह द्वीप समुद्र आप की मानी हुई पृथिवी में हैं, किस वेद में पृथिवी को १५००० परिधि वाली कहा है ? जब अमरीका मालूम नहीं हुआ था, अंग्रेज़ विद्वान् उतनी ही भूमि को समग्र पृथिवी मानते थे, और अब यह भी कहते हैं समग्र पृथिवी मालूम नहीं होसकी, यदि समग्र पृथिवी अभी तक मालूम ही नहीं हुई, तो फिर १५००० परिधि पर विश्वास रखने वाले बड़े निर्बुद्धि हैं। दिन प्रतिदिन नवीन से नवीन द्वीप मालूम होते जाते हैं, इसलिये १५००० परिधि वाली पृथिवी माननी असत्य है।

फिर स्वामीजी ने पृष्ठ ४८९ पर लिखा है कि "कुरुक्षेत्र में ८४ सहस्र नदी हैं, भला कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है, उसको न देखकर एक मिथ्या बात लिखने में इन को लज्जा क्यों न आई" स्वामीजी की यह कुतर्क अज्ञानता की है, क्योंकि जैनी इस कुरुक्षेत्र में ८४ सहस्र नदियां नहीं मानते हैं, बलकि जम्बू-द्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप के कुरुक्षेत्र में मानते हैं, देखो, जम्बूद्वीपपन्नति और लघुक्षेत्रसमास ग्रन्थ ॥ जैनियों ने झूठ लिखा नहीं, अतः उनको लज्जा नहीं, लज्जा स्वामीजी को आनी चाहिये जो व्यर्थ खण्डन में टांग फंसाते फिरते थे ॥

इसी पृष्ठ पर अतिपांडुकम्ला आदि शिलाओं की समीक्षा

करते हैं कि "देखिये ! इनके तीर्थंकरों के जन्मोत्सवादि करने की शिला को ऐसी ही मुक्ति की सिद्धशिला है, ऐसी इन की बहुत सी वातें गोलमोल हैं," स्वामीजी ने शब्द "गोलमोल" लिखकर खण्डन कर दिया समझ रखा होगा, परन्तु ऐसे नहीं है। हमारी वातें गोलमोल नहीं है, किन्तु आपका खण्डन ही गोल-मोलँ होने से आपकी ही वातें गोलमोल हैं, पर्वतों के ऊपर शिलाएं अवश्य होती है, और इस शिला को हम मेरुपर मानते हैं, तो बस स्वामीजी के खण्डन का ही खण्डन होगया॥ स्वामीजी के सत्यार्थ-प्रकाश की वातें कहां तक लिखें? यदि सम्पूर्ण लिखें, तो इससे भी अधिकत्तर पोथी त्यार होसकेगी॥ बुद्धिमान हमारे संकुचित खण्डन से ही अनुमान कर सकते हैं कि स्वामीजी में कितनी योग्यता थी और अपने आपको किस आडम्बर में प्रकट कर रखा था। हमने जो यह खण्डन किया है, पक्षपात से रहित हो कर सत्यासत्य निर्णय करने के लिये और परोपकारबुद्धि से किया है, कदाचित् इस से भी किसी को अशान्ति और पीड़ा हो तो कृपया क्षमा करें॥

इति श्रीमद्विजयानन्द सूरीश्वरानां शिष्य श्रीमन्महोपाध्याय श्रीमल्लक्ष्मीविजयानां शिष्य श्रीमद्विजयसूरिवर्यानां लघुशिष्य मुनि लब्धिविजयेन विरचितोयं दयानन्द कुतर्कतिमिरतरणिः नामाग्रन्थः समाप्तिमगमत्

# शुद्धिपत्रम्

| शुद्ध | अशुद्ध | पृष्ठ | पंक्ति |
|---|---|---|---|
| जिनपट्टो | जिनपट्टो | २ | ४ |
| बुद्धस्त्व | बुद्धस्त | ६ | १७ |
| एकं | एको | ७ | १६ |
| द्वितीयं | द्वितीयो | ,, | ,, |
| स्तेय | आस्तेय | १४ | ९ |
| अफीम | अमीम | १९ | १३ |
| नियति | नीति | २३ | २० |
| प्रयोग | योग | २७ | ५ |
| मृत्यु | मृत्य | ३० | ४ |
| असत्य | अस्त्य | ३२ | ८ |
| गर्धभ | गर्धब | ३३ | ८ |
| अन्यायकारी | अन्यकारी | ३५ | २३ |
| पेषण | पेशन | ३९ | ४ |
| नहीं है | है | ३९ | १० |
| चतुर्विधोधर्मः | चतुर्विधंधर्मं | ४२ | १७ |
| प्रोक्त इति | प्रोक्तमिति | ,, | ,, |
| सावद्य | अनवद्य | ४४ | १२ |
| सूरीश्वराणां | सूरीश्वरानां | १०४ | १२ |
| विजयकमलसूरि | विजयसूरी | १०४ | १८ |
| वर्ष्याणाम् | वर्ष्यानाम् | | |